कल्याण
वर्ष २४
अङ्क १२
भगवान

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम। जय रघुनन्दन जय सियाराम॥
रघुपति राघव राजा राम। पतितपावन सीताराम॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर पौष २००७, दिसम्बर सन् १९५०

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिङ्ग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय। सत् चित् आनँद भूमा जय जय॥
जय जय विश्वरूप हरि जय। जय हर अखिलात्मन् जय जय॥
जय विराट जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते॥

साधारण प्रति भारतमें ।≤) विदेशमें ॥–) (१० पैंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—घनश्यामदास जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

पुराने और नये ग्राहक महानुभावोंसे प्रार्थना

यह चौबीसवें वर्षका अन्तिम बारहवाँ अङ्क है । इस अङ्कमें इस वर्षका मूल्य समाप्त हो गया है । पचीसवें वर्षका पहला अङ्क (विशेषाङ्क) संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क होगा । यह विशेषाङ्क बहुत ही सुन्दर, रोचक, शिक्षाप्रद, लोक-परलोकमें हित करनेवाले उपदेशोंसे पूर्ण, सुन्दर-सुन्दर कथाओं और इतिहासोंसे युक्त तथा धार्मिक दृष्टिसे भी अत्यन्त कल्याणकारक होगा । इसमें भगवान् श्रीशङ्कर, भगवान् श्रीविष्णु, भगवान् श्रीराम, भगवान् श्रीकृष्ण, भगवान् श्रीसूर्य, भगवती शक्ति आदिके तथा भक्तों एवं अन्यान्य कथाप्रसङ्गोंके सैकड़ों सादे, इकरंगे और बहुरंगे मनोहर एवं दर्शनीय चित्र रहेंगे । वार्षिक मूल्य डाक-महसूलसहित ७॥) होगा ।

यह 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' आगामी जनवरीके द्वितीय सप्ताहतक प्रकाशित होकर ग्राहकोंकी सेवामें भेजा जाने लगे, ऐसी व्यवस्था की जा रही है ।

अबतकके प्रकाशित 'कल्याण'के विशेषाङ्कोंमें अधिकांश ऐसे हैं, जिनके लिये पहलेसे रुपये भेजकर ग्राहक नहीं बन जानेवालोंको निराश ही रहना पड़ा है । यह विशेषाङ्क भी विशेष महत्त्वपूर्ण होगा । छप भी रहा है गतवर्षकी अपेक्षा कम संख्यामें तथा छपाईका काम भी शीघ्रतापूर्वक हो रहा है । अतः ग्राहकोंको रुपये मनीआर्डरसे तुरंत भेजकर अपना विशेषाङ्क सुरक्षित करवा लेना चाहिये । मनी-आर्डर फार्म दसवें अङ्कमें भेजा जा चुका है ।

विशेषाङ्ककी वी० पी०से प्रतीक्षा करनेवाले ग्राहकोंमेंसे सबको अङ्क मिलना बहुत कठिन है; क्योंकि तबतक अङ्कोंके समाप्त हो जानेकी सम्भावना है ।

ग्राहकोंके नाम-पते सब देवनागरी (हिंदी) में किये जा रहे हैं । अतः सारे पत्रव्यवहारमें, वी० पी० मँगवाते समय तथा मनीआर्डर-कूपनमें अपना नाम, पता, मुहल्ला, ग्राम, पोस्ट-आफिस, जिला, प्रान्त सब हिंदीमें साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये ।

पत्रव्यवहारमें और रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें अपना ग्राहक-नम्बर जरूर लिखनेकी कृपा करें । नम्बर याद न हो तो कम-से-कम 'पुराना ग्राहक' अवश्य लिख दें । नये ग्राहक हों तो 'नया ग्राहक' लिखना न भूलें ।

ग्राहक-नम्बर न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें दर्ज हो जायगा । इससे आपकी सेवामें विशेषाङ्क नये नम्बरोंसे पहुँच जायगा और पुराने नम्बरकी

वी॰ पी॰ दुबारा जायगी। ऐसा भी सम्भव है कि उधरसे आपने रुपये भेजे हों और उसके हमारे पास पहुँचनेके पहले ही आपके नाम वी॰ पी॰ चली जाय। दोनों ही स्थितियोंमें, आपसे प्रार्थना है कि, आप कृपापूर्वक वी॰ पी॰ वापस न करें और प्रयत्न करके नये ग्राहक बनाकर उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेका कष्ट करें। इस कृपाके लिये 'कल्याण' आपका आभारी होगा।

जिन महानुभावोंको किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपापूर्वक मनाहीका एक कार्ड अवश्य लिख दें। ऐसा करनेसे उनके सिर्फ तीन पैसे खर्च होंगे, पर 'कल्याण' कई आने डाकखर्चके नुकसान तथा समयके अपव्ययसे बच जायगा।

गीताप्रेसके पुस्तक-विभागसे 'कल्याण'के प्रबन्ध-विभागकी व्यवस्था बिल्कुल अलग है। इसलिये ग्राहक महोदयोंको न तो 'कल्याण'के रुपयोंके साथ पुस्तकोंके लिये रुपये भेजने चाहिये और न पुस्तकोंका आर्डर ही भेजना चाहिये। पुस्तकोंके लिये गीताप्रेसके मैनेजरके नाम अलग रुपये भेजने तथा अलग आर्डर लिखना चाहिये और 'कल्याण'के लिये 'कल्याण' मैनेजरके नाम अलग।

सजिल्द विशेषाङ्कके लिये १।) जिल्द-खर्च अधिक भेजना चाहिये। इस वर्ष जिल्दोंकी जुजबन्दीकी सिलाईकी व्यवस्था की गयी है। अङ्क जानेमें देर हो सकती है।

रुपये बीमा अथवा मनीआर्डरसे ही भेजिये।

'कल्याण' तथा 'गीताप्रेस'को जो सज्जन रुपये भेजना चाहें, वे पूरी बीमा बेंचकर अथवा मनीआर्डरसे भेजें। सादे लिफाफेमें या रजिस्टर्ड पत्रसे रुपये न भेजें। ऐसे भेजे हुए रुपये रास्तेमें निकल जाते हैं। कोई सज्जन इस प्रकार रुपये भेजेंगे और वे यहाँ न पहुँचेंगे तो उनकी जिम्मेवारी 'कल्याण' और 'गीताप्रेस'की नहीं होगी।

'महाभारताङ्क' समाप्त हो गया। रुपये न भेजें

'महाभारताङ्क' की थोड़ी-सी प्रतियाँ थीं, पर माँग इतनी अधिक आ गयी कि सबकी माँगकी पूर्तिके लिये जरा भी गुंजाइश नहीं रही। जिल्द बँधे हुए जितने अङ्क थे, सब भेजे जा चुके। अब ज्यों-ज्यों जिल्द बँधते जायँगे, त्यों-ही-त्यों जिनके रुपये जमा हैं, उनके नाम क्रमानुसार अङ्क भेजे जाते रहेंगे। पर यदि अङ्क समाप्त हो गये तो रुपये सादर क्षमाप्रार्थनासहित लौटा दिये जायँगे। अब कोई भी सज्जन कृपया महाभारताङ्कके लिये माँग न लिखें, न रुपये ही भेजें। अब आनेवाले मनी-आर्डर लौटाये जा रहे हैं।

व्यवस्थापक—कल्याण, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर
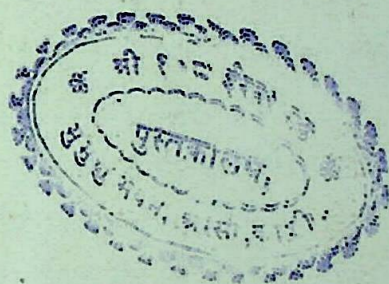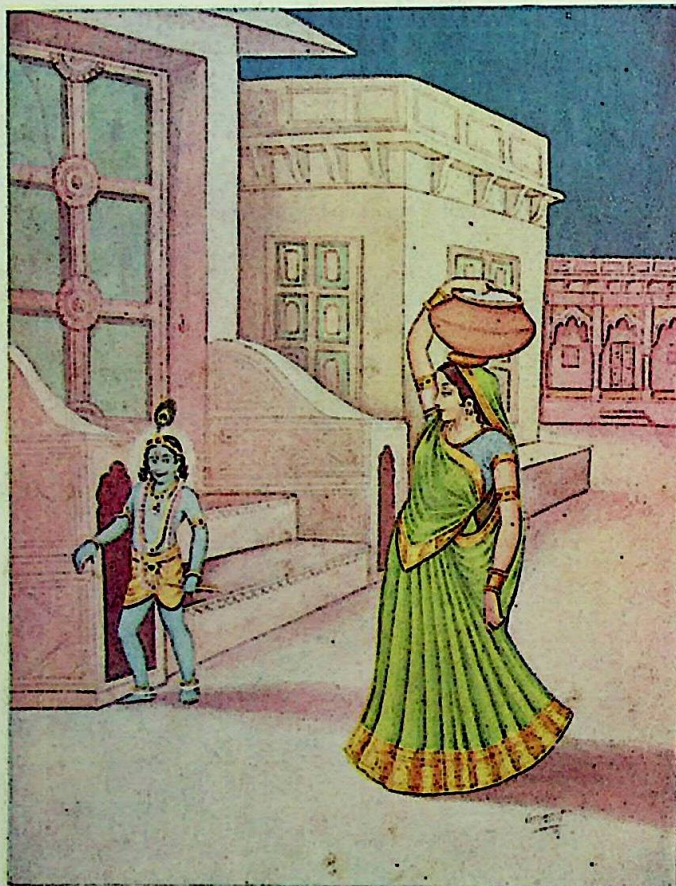
हरि-रस-माती गोपी

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
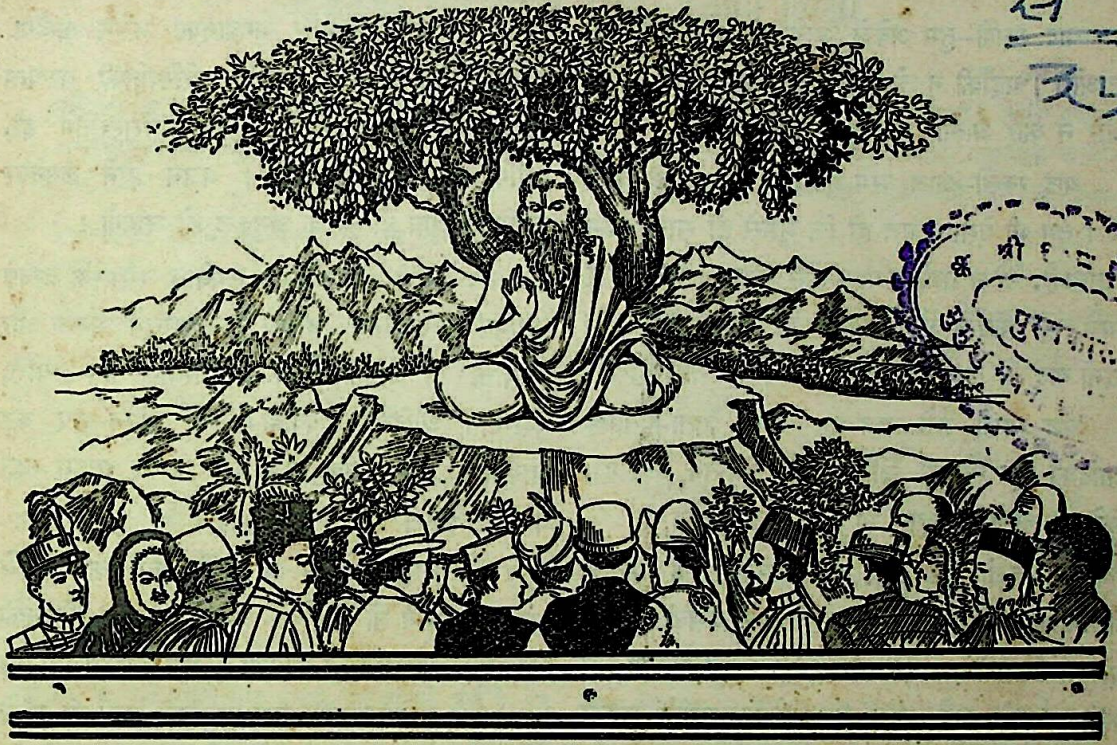
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

(मनुस्मृति २ । २०)

वर्ष २४ } गोरखपुर, सौर पौष २००७, दिसम्बर १९५० { संख्या १२ पूर्ण संख्या २८९

हरि-रस-माती गोपीं

सखी वह गई हरि पै धाइ ।
तुरतहीं हरि मिले ताकौं, प्रगट कही सुनाइ ॥
नारि इक अति परम सुंदरि, बरनि कापै जाइ ।
पान तैं सिर धरे मटुकी, नंद-गृह भरमाइ ॥
लेहु लेहु गुपाल कोऊ, दह्यौ गई भुलाइ ।
सूर प्रभु कहुँ मिलैं ताकौं, कहति करि चतुराइ ॥

—सूरदासजी

याद रक्खो—तुम अकेले आये हो और अकेले ही जाओगे। यहाँकी न तो कोई चीज तुम्हारे साथ जायगी और न कोई आत्मीय-स्वजन ही जायगा।

याद रक्खो—आज घरमें तुम्हारी बड़ी आवश्यकता है। तुम भी ऐसा मानते हो कि मुझसे ही सारा काम चलता है, मेरे न रहनेपर काम कैसे चलेगा। पर तुम्हारे मरते ही कोई-न-कोई व्यवस्था हो जायगी और कुछ दिनों बाद तो तुम्हारे अभावका स्मरण भी नहीं होगा।

याद रक्खो—जैसे आज तुम अपने पिता-पितामह आदिको भूल गये हो और अपनी स्थितिमें मस्त हो, ऐसे ही तुम्हारी सन्तान भी तुम्हें भूल जायगी।

याद रक्खो—तुम व्यर्थ ही आसक्ति तथा ममताके जालमें फँस रहे हो और मानव-जीवनके असली ध्येयको भूलकर, जिससे एक दिन सारा सम्बन्ध छूट जायगा और कभी उसकी याद भी नहीं आवेगी, उसीमें मनको फँसाकर, जीवनको अधोगतिकी ओर ले जा रहे हो।

याद रक्खो—तुम पहले कहीं थे ही, वहाँ तुम्हारे माता-पिता, घर-द्वार, पत्नी-पुत्र आदि भी होंगे ही। आज तुम्हें जैसे उनकी याद ही नहीं है, वे किस हालतमें कहाँ हैं, इसका पता लगानेकी भी कभी चिन्ता मनमें नहीं होती, वैसे ही यहाँसे चले जानेपर दूसरे जन्ममें यहाँके सब कुछको भूल जाओगे।

याद रक्खो—सम्बन्ध अनित्य और काल्पनिक होनेपर भी जबतक तुम्हारी इसमें ममता और आसक्ति है, तबतक तुम्हारी कामना-वासना नहीं मिट सकती एवं जबतक कामना-वासना रहेगी, तबतक दुष्कर्म भी बनते ही रहेंगे और जबतक दुष्कर्म बनेंगे, तबतक सुखका भी मुख कभी भी नहीं दीखेगा।

याद रक्खो—जबतक तुम यह सोचते रहोगे कि अमुक परिस्थिति आनेपर भगवान्‌का भजन करूँगा, तबतक भजन बनेगा ही नहीं, परिस्थितिकी कल्पना बदलती रहेगी। अतएव तुम जिस परिस्थितिमें हो, उसीमें भजन आरम्भ कर दो। भजन होने लगनेपर परिस्थिति आप ही उसके अनुकूल हो जायगी।

याद रक्खो—भजनमें मन लगनेपर संसारके बन्धन स्वयमेव शिथिल हो जायँगे। भगवान्‌में ममता और आसक्ति हो जायगी, तब घर-परिवार, धन-सम्पत्ति, यश-मान आदिकी हथकड़ी-बेड़ियाँ अपने-आप कट जायँगी। फिर इसके लिये कोई अलग प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

याद रक्खो—जगत्‌से भागनेकी चेष्टा करोगे, इसे छोड़ने जाओगे तो और भी जकड़ोगे। इसे छोड़नेका प्रयत्न छोड़कर भगवान्‌में लगनेका—सब प्रकारसे लगनेका प्रयत्न करो। भगवान्‌की रूप-माधुरीकी जरा-सी झाँकी मिलते ही भोगोंके रूप-सौन्दर्यका—सुख-विलासका स्वप्न तत्काल भङ्ग हो जायगा। फिर इस ओर झाँकनेको भी मन नहीं करेगा।

याद रक्खो—मानव-जीवन अजगरोंकी भाँति लम्बे कालतक नहीं रहता। फिर इस समय तो बालक तथा तरुण भी सहसा मृत्युके शिकार हो जाते हैं। अतएव बुढ़ापेकी प्रतीक्षा न करके तुरंत भजनमें लग जाओ। यह अवसर हाथसे निकल गया तो पीछे सिवा पछतानेके कोई भी उपाय नहीं रह जायगा।

याद रक्खो—भगवान्‌ने तुमपर कृपा करके संसार-सागरसे तरने और भगवान्‌का प्रेम प्राप्त करनेके सारे साधन सुलभ कर दिये हैं। इन साधनोंको पाकर भी यदि तुम असावधान रहोगे और इनसे लाभ नहीं उठाओगे तो तुम्हारे समान मूर्ख और कौन होगा?

'शिव'

जीवनकी सफलताके लिये अनुपम शिक्षा

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥
(गीता १३ । ८)

इस श्लोकके भावको हृदयङ्गम करानेके लिये नीचे एक कहानीकी कल्पना की जाती है ।

अवन्तिकापुरीका राजा विष्वक्सेन बड़ा ही धर्मात्मा था । उसका राज्य धन-धान्यसे परिपूर्ण था । प्रजा उसकी आज्ञामें थी । उसके यहाँ किसी भी पदार्थकी कमी नहीं थी, किंतु उसके कोई सन्तान नहीं थी । वह एक बड़े सद्गुणसम्पन्न सदाचारी और विरक्त महात्मा पुरुषके पास जाया करता था और उन महात्माकी सेवा-शुश्रूषा किया करता था ।

एक दिन महात्माने पूछा—तुम बहुत दिनोंसे हमारे पास आते हो, तुम्हारे आनेका उद्देश्य क्या है ?

विष्वक्सेनने कहा—मेरे यहाँ किसी भी चीजकी कमी नहीं है । आपकी कृपासे मेरा राज्य धन-धान्यसे पूर्ण है, पर मेरे कोई पुत्र नहीं है, यही एक अभाव है । आप कृपापूर्वक ऐसा उपाय बतलाइये, जिससे मुझे एक बहुत उत्तम पुत्रकी प्राप्ति हो ।

महात्माने कहा—तुम पुत्र-प्राप्तिके लिये विष्णुयाग करो। भगवान् उचित समझेंगे तो तुम्हें पुत्र दे सकते हैं ।

राजा विष्वक्सेनने महात्माके कथनानुसार यथाशास्त्र विष्णुयागका अनुष्ठान किया । उस यज्ञके फलस्वरूप उसकी स्त्रीके गर्भ रह गया और दस महीनेके पश्चात् उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । वह बालक बहुत ही सुन्दर और बुद्धिमान् था, मानो कोई योगभ्रष्ट हो । उसके पैदा होनेपर राजाने शास्त्रोक्त विधिके अनुसार उसके जातकर्मादि संस्कार कराये और उसका नाम रक्खा 'जनार्दन' । कुछ बड़े होनेपर जनार्दनको घरपर ही अध्यापक बुलाकर विद्याभ्यास कराया गया । कुशाग्रबुद्धि होनेके कारण जनार्दन शीघ्र ही विद्यामें पारङ्गत हो गया । वह संस्कृत आदि भाषाओंका एक अच्छा विद्वान् हो गया । वह सब लड़कोंके साथ बड़ा प्रेम करता । किसीके साथ भी कभी लड़ाई-झगड़ा और गाली-गलौज नहीं करता । वह स्वाभाविक ही सीधे सरल स्वभावका, सद्गुण-सदाचारसम्पन्न और मेधावी था ।

एक दिन राजा विष्वक्सेन महात्माजीके पास गया तो अपने पुत्रको भी साथ ले गया । राजाने महात्माके चरणोंमें अभिवादन किया, यह देखकर लड़केने भी वैसे ही प्रणाम किया ।

राजाने कहा—महाराजजी ! आपने जो अनुष्ठान बतलाया था, उसके फलस्वरूप आपकी कृपासे ही मेरे यह बालक पैदा हुआ है । अतः इसको कुछ शिक्षा देनेकी कृपा करें ।

महात्मा बोले—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

'इस लोक और परलोकके सम्पूर्ण भोगोंमें आसक्तिका अभाव और अहङ्कारका भी अभाव; जन्म, मृत्यु, जरा और रोग आदिमें दुःख और दोषोंका बार-बार विचार करना ।'

फिर महात्माजीने उस लड़केके हाव-भावको देखकर कहा कि 'यह लड़का योगभ्रष्ट पुरुष प्रतीत होता है । अतः यह आगे चलकर बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बन सकता है ।'

यह सुनकर राजा अपने घरपर चला आया और अपनी पत्नी, मन्त्रिगण तथा सेवकोंको एकान्तमें बुलाकर सारी बातें उन्हें बतलायीं एवं समझा दिया कि इस लड़केको सदा-सर्वदा ऐशो-आराम और स्वाद-शौकीनीके ही वातावरणमें रखना चाहिये । भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी बातोंसे इसे सर्वथा दूर रखना चाहिये । इस बातका पूरा ध्यान रक्खा जाना चाहिये कि जिससे कोई भी वस्तु इसके भक्ति-विवेक-वैराग्यका कारण न हो जाय ।

आज्ञानुसार सारी व्यवस्था हो गयी । किंतु जनार्दनके अन्तःकरणमें जो पूर्वजन्मके प्रबल संस्कार भरे थे, वे कैसे रुक सकते थे । इसके सिवा, उसके हृदयपर महात्माजीकी शिक्षाका भी पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था । जनार्दन अपने समान आयुवाले लड़कोंके साथ खेलता था; किंतु उसका मन खेल-तमाशों और भोग-आराममें कभी लगता नहीं था । वह जब कभी पर्यटनके लिये बाहर जाता तब राजाके सिखाये-समझाये हुए बुद्धिमान् मन्त्री विद्यासागर सदा उसके साथ रहते थे ।

जब जनार्दनकी अठारह वर्षकी आयु हो गयी तब उसका विवाह कर दिया गया और वह अपनी पत्नीके साथ रहने लगा। कुछ दिनों बाद उसकी स्त्री गर्भवती हुई। जब सन्तान होनेका समय आया तब दिनमें स्त्रीको बड़ा कष्ट हुआ। उसी रातमें लड़का पैदा हुआ; उस समय जनार्दन अपनी स्त्रीके पास ही था। प्रसव-कष्टको देखकर वह बहुत ही घबराया। जेर और मैलेके साथ बच्चेका पैदा होना देखकर उसे बड़ी ही ग्लानि हुई और उसीके साथ सहज ही वैराग्यका भाव भी हुआ।

सवेरा होनेपर मन्त्री आ गये। सब घरवाले एकत्र हुए। रात्रिमें जनार्दनकी पत्नीकी प्रसव-वेदनाका हाल सुनकर सबको बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने वैद्योंको बुलाकर दिखलाया। वैद्योंने कहा—'कष्ट तो लड़केको काफी हुआ, पर कोई चिन्ताकी बात नहीं है।'

तब जनार्दनने मन्त्री विद्यासागरसे पूछा—मन्त्रीजी! पैदा होते ही लड़का बहुत चिल्लाया और तड़फड़ाया; ऐसा क्यों हुआ?

विद्यासागर बोले—जब बच्चा गर्भमें रहता है, तब सब द्वार बंद रहते हैं और जब वह बाहर निकलता है, तब एक बार उसे बहुत कष्ट होता है।

जनार्दन—यह जेर और मैला क्यों रहता है?

विद्यासागर—यह सब गर्भमें इसके साथ रहते हैं!

जनार्दन—तब तो गर्भमें बड़ा कष्ट रहता होगा।

विद्यासागर—इसमें क्या सन्देह है। गर्भकष्ट तो भयानक होता ही है।

जनार्दन—गर्भमें यह कष्ट क्यों होता है?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके पापोंके कारण।

जनार्दन—पूर्वजन्म क्या होता है?

विद्यासागर—जीव पहले जिस शरीरमें था, वह इसका पूर्वजन्म था। वहाँ इसने कोई पाप किया था, उसीके कारण इसको विशेष कष्ट हुआ।

जनार्दन—पाप किसे कहते हैं?

विद्यासागर—झूठ बोलना, कपट करना, चोरी करना, परस्त्री-गमन करना, मांस-मदिरा खाना, दूसरोंको कष्ट पहुँचाना आदि जिन आचरणोंका शास्त्रोंमें निषेध किया गया है, वे सभी पाप हैं।

जनार्दन—शास्त्र क्या होते हैं?

विद्यासागर—श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराण आदि धर्मग्रन्थ शास्त्र हैं।

जनार्दन—अपने घरमें ये हैं?

विद्यासागर—नहीं।

जनार्दन—तो मँगा दो, मैं पढ़ूँगा।

मन्त्री विद्यासागर चुप हो रहे। उन्होंने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। मन्त्रीकी उपर्युक्त बातोंको सुनकर जनार्दनका चित्त उदास-सा हो गया। वह गर्भ और जन्मके दुःखको समझकर मन-ही-मन चिन्ता करने लगा—'अहो! कैसा कष्ट है!' उसका प्रफुल्ल मुखकमल कुम्हला गया। उसके मुखपर विषादकी रेखा प्रत्यक्ष दिखायी देने लगी। यह देखकर राजाने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्रीवर! राजकुमारका चेहरा उदास क्यों है?'

विद्यासागरने कहा—लड़का पैदा हुआ है, इससे इसके चित्तमें कुछ ग्लानि-सी है।

राजा बोला—लड़का होनेसे तो उत्साह और प्रसन्नता होनी चाहिये। फिर उन्होंने जनार्दनसे पूछा—'तुम्हारे चेहरेपर उदासी क्यों है?'

जनार्दन—ऐसे ही है।

राजा विष्वक्सेनने फिर मन्त्रीको आदेश दिया कि इसे हवाखोरीके लिये ले जाओ और चित्तकी प्रसन्नताके लिये बाग-बगीचोंमें घुमा लाओ।

विद्यासागरने वैसा ही किया। बढ़िया घोड़े जुती हुई एक सुन्दर बग्गीमें बिठलाकर वह उसे हवाखोरीके लिये शहरके बाहर बगीचोंमें ले गया। शहरसे बाहर निकलते ही जनार्दनकी एक गलित कुष्ठीपर दृष्टि पड़ी, उस कुष्ठग्रस्त मनुष्यके हाथकी अङ्गुलियाँ गिरी हुई थीं; पैर, कान, नाक, आँख बेडौल थे। वह लँगड़ाता हुआ चल रहा था।

जनार्दनने पूछा—मन्त्रीजी! यह क्या है?

विद्यासागर—यह कुष्ठ रोगी है।

जनार्दन—इसकी ऐसी हालत क्यों हो गयी?

विद्यासागर—पूर्वजन्मके बड़े भारी पापोंके कारण।

जनार्दन—क्या मेरी भी यह हालत हो सकती है?

विद्यासागर—परमात्मा न करे, ऐसा हो। आप तो पुण्यात्मा हैं।

जनार्दन—हो तो सकती है न?

विद्यासागर—कुमार! जो बहुत पापी होता है, उसीके यह रोग होता है। आपके विषयमें मैं कैसे क्या कहूँ। इतना

अवश्य है कि आपके भी यदि पूर्वके बड़े पाप हों तो आपकी भी यह दशा हो सकती है ।

जनार्दन—इन भारी-भारी पापोंका तथा उनके फलोंका वर्णन जिन ग्रन्थोंमें हो, उन ग्रन्थोंको मेरे लिये मँगवा दीजिये । मैंने पहले भी आपसे कहा ही था । अब शीघ्र ही मँगा दें ।

विद्यासागर—आपके पिताजीका आदेश होनेपर मँगवाये जा सकते हैं ।

इतनेहीमें आगे एक दूसरा ऐसा मनुष्य मिला, जिसके शरीरपर झुर्रियाँ पड़ी हुई थीं, बाल पककर सफेद हो गये थे, अङ्ग सूखे हुए थे, आँखोंकी ज्योति मन्द पड़ गयी थी, कमर झुकी थी, वह लकड़ीके सहारे कुबड़ाकर चल रहा था, उसके हाथ-पैर काँप रहे थे एवं बार-बार कफ और खाँसीके कष्टके कारण वह बहुत तंग हो रहा था । उसको देखकर राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक नब्बे वर्षका बूढ़ा आदमी है ।

जनार्दन—जब मैं नब्बे वर्षका हो जाऊँगा, तब क्या मेरी भी यही दशा होगी ?

विद्यासागर—कुमार ! आप दीर्घायु हों । मनुष्य जब वृद्ध होता है तब सभीकी यह दशा होती है ।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दनको बड़ी ही चिन्ता हुई कि मेरी भी ऐसी दशा हो सकती है । इस प्रकार व्याधि तथा जरासे पीड़ित पुरुषोंको देखकर राजकुमारके मनमें शरीरकी स्वस्थता और सुन्दरतापर अनास्था हो गयी ।

तदनन्तर लौटते समय रास्तेमें श्मशानभूमि पड़ी । वहाँ एक मुर्दा तो जल रहा था और एक दूसरे मुर्देको कितने ही लोग 'रामनाम सत्य है' पुकारते हुए मरघटकी ओर लिये आ रहे थे और कुछ मनुष्य उनके पीछे रोते हुए चल रहे थे ।

कुमारने पूछा—यह कौन स्थान है ?

विद्यासागर—यह श्मशान-भूमि है ।

जनार्दन—यहाँ यह क्या होता है ?

विद्यासागर—जो आदमी मर जाता है, उसे यहाँ लाकर जलाया जाता है ।

जनार्दन—यह जुलूस किसका आ रहा है ? जुलूसके पीछे चलनेवाले लोग रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है, उसके घरवाले श्मशानभूमिमें उसके शवको ला रहे हैं । ये रोनेवाले लोग उसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं ।

जनार्दन—मृत्यु किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—इस शरीरसे मन, इन्द्रिय और प्राणका निकल जाना 'मृत्यु' है । जब आदमी मर जाता है तब उसके शरीरको शव कहा जाता है और फिर घरवाले उसे यहाँ लाकर जला देते हैं । एवं फिर वापस घर चले जाते हैं ।

जनार्दन—तो फिर ये रोते क्यों हैं ?

विद्यासागर—मालूम होता है, मरनेवालेका इन सबके साथ बहुत प्रेम रहा है । अब वह पुरुष सदाके लिये इनसे बिछुड़ गया है, इस बिछोहके दुःखसे ये घरवाले रो रहे हैं ।

जनार्दन—क्या हम भी एक दिन मरेंगे ?

विद्यासागर—कुमार ! ऐसा न कहें । परमात्मा आपको सौ वर्षकी आयु दें ।

जनार्दन—जो भी कुछ हो, पर आखिर एक दिन तो मरना ही होगा न ?

विद्यासागर—कुमार ! एक दिन तो सभीको मरना है । जो पैदा हुआ है, उसका एक दिन मरना अनिवार्य है ।

मन्त्रीके वचन सुनकर राजकुमार चिन्तामग्न हो गया । तदनन्तर आगे चलनेपर मार्गमें एक विरक्त महात्मा दिखलायी पड़े । राजकुमारने पूछा—'यह कौन है ?'

विद्यासागर—यह एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं ।

जनार्दन—जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—जिन्होंने भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है ।'

जनार्दन—कल्याण किसे कहते हैं ?

विद्यासागर—विवेक-वैराग्य और भजन-ध्यान आदिके साधनोंद्वारा होनेवाली परम शान्ति और परम आनन्दकी प्राप्तिको 'कल्याण' कहते हैं । कल्याणप्राप्त मनुष्यको ही 'जीवन्मुक्त महात्मा' कहते हैं । वह सदाके लिये परमात्माको प्राप्त हो जाता है और फिर वह लौटकर जन्म-मृत्युरूप असार संसारमें नहीं आता । ऐसे ही पुरुषका वस्तुतः संसारमें जन्म लेना धन्य है ।

जनार्दन—क्यों मन्त्री महोदय, क्या मैं भी ऐसा बन सकता हूँ ?

विद्यासागर—क्यों नहीं; जो हृदयसे चाहता है, वही बन सकता है। किंतु आप अभी बालक हैं, आपको तो संसारके सुख-विलास और भोग भोगने चाहिये। यह तो शेष कालकी बात है।

जनार्दन—तो क्या जवान अवस्थामें आदमी मर नहीं सकता? अभी रास्तेमें जो जुलूस जाता था, उसके विषयमें तो आपने बतलाया था न कि यह जवान लड़का मर गया है?

विद्यासागर—मर सकता है। पर पूर्वके कोई बड़े भारी पाप होते हैं तभी मनुष्य युवावस्थामें मरता है।

जनार्दन—तो क्या मेरे युवावस्थामें न मरनेकी कोई गारंटी है।

विद्यासागर—गारंटी किसीकी भी नहीं हो सकती। मरनेमें प्रधान कारण प्रारब्ध ही है।

यह सुनकर राजकुमार जनार्दन बहुत ही शोकातुर हो गया और मन-ही-मन विचारने लगा कि मेरा जल्दी-से-जल्दी कल्याण कैसे हो।

वह घरपर आया। उसके चेहरेपर पहलेकी अपेक्षा अधिक उदासी देखकर राजा विष्वक्सेन चिन्ता करने लगा। तीसरे दिन फिर राजकुमारकी वही अवस्था देखकर विष्वक्सेनने मन्त्रीसे पूछा—'मन्त्री! मैं देखता हूँ, राजकुमारका चेहरा नित्य मुरझाया हुआ रहता है, इसपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। ऐसा क्यों हो गया?'

विद्यासागर—राजन्! क्या कहा जाय? तीन दिन हो गये, जबसे कुमारके पुत्र हुआ है, तभीसे इनकी यही अवस्था है।

राजाने मन्त्रीसे पुनः कहा—इसको खूब सुख-विलास और विषयभोगोंमें लगाओ। इसके साथी मित्रोंको समझाकर उनके साथ इसको नाटक-खेल और कौतुक-गृहोंमें ले जाओ। खानेके लिये नाना प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थ और मेवे-मिष्टान्न दो। सुन्दर-सुन्दर चित्ताकर्षक दृश्य दिखाओ। इत्र, फुलेल आदि इसके सिरपर छिड़को। नृत्य-वाद्य आदिका आयोजन करके इसके मनको राग-रंगमें लगाओ।

मन्त्रीने राजाके आज्ञानुसार सारी व्यवस्था की; किंतु सब निष्फल! राजकुमारको तो अब संसारकी कोई भी वस्तु सुखदायक प्रतीत नहीं होती थी। उसे सभी पदार्थ क्षणभङ्गुर, दुःखदायी और अत्यन्त रूखे प्रतीत होते थे। भोगोंमें ग्लानि हो जानेसे वे त्याज्य प्रतीत होते। भोगोंका सेवन राजकुमारको एक महान् झंझट-सा प्रतीत होता। इत्र, फुलेल आदि उसे पेशाबके तुल्य मालूम होते। पुष्पोंकी शय्या, पुष्प और मालाएँ तथा चन्दन उसे वैसे ही नहीं सुहाते जैसे कि कफ-खाँसीके रोगीको गीले वस्त्र। वीणा-सितारका बजाना-सुनना उसके कानोंको एक कोलाहल-सा प्रतीत होता। नाटक-खेल, कौतुक-तमाशे व्यर्थके झंझट दीखने लगे। बढ़िया-बढ़िया फल, मेवे, मिष्टान्न आदि पदार्थ ज्वराक्रान्त रोगीकी तरह अरुचिकर और बुरे मालूम देने लगे। शरीर और विषयोंमें उसका तीव्र वैराग्य होनेके कारण संसारका कोई भी पदार्थ उसे सुखकर नहीं प्रतीत होता। उसका कहीं किसी भी विषयमें कोई भी आकर्षण नहीं रह गया था।

उसके मुखमण्डलकी विशेष विषण्ण तथा चिन्तायुक्त उदासीन मुद्राको देखकर राजाने पूछा—'तीन दिन हुए, जबसे तुम्हारे लड़का पैदा हुआ है, मैं तुम्हारे मुखको ग्लानियुक्त और चिन्तामग्न देख रहा हूँ, इसका क्या कारण है? हर्ष और उत्साहके अवसरपर यह ग्लानि और चिन्ता कैसी?'

जनार्दनने कहा—पिताजी! आपका कहना सर्वथा युक्तियुक्त और सत्य है। जब लड़का पैदा हुआ तो गंदी झिल्ली और मलसे संयुक्त उसकी उत्पत्तिको देखकर तथा उसके अत्यन्त दुःखभरे रुदनको सुनकर मुझे बहुत ही दुःख और आश्चर्य हुआ, तब मैंने बड़े ही आग्रहसे मन्त्रीजीसे पूछा। मन्त्रीजीने बतलाया कि 'इसे यह कष्ट इसके पूर्वजन्मके पापोंके कारण हुआ है।' यह सुनकर मुझे यह चिन्ता हुई कि यदि मैं, झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, हिंसा, मांस-मदिरा आदिके सेवनरूप पाप करूँगा तो मुझे भी इसी तरह गर्भवास और जन्मका दुःख भोगना पड़ेगा।

राजा विष्वक्सेनने कहा—यह सब झूठ है, कपोल-कल्पना है। मरनेके बाद फिर जन्म होता ही नहीं। तदनन्तर राजाने झिड़ककर मन्त्रीसे कहा—'क्योंजी! क्या तुमने ये सब बातें इससे कही थीं?'

मन्त्री काँपता हुआ बोला—सरकार! मुझसे कही गयी।

जनार्दन कहने लगा—आपकी आज्ञासे मन्त्रीजी मुझे हवाखोरीके लिये शहरसे बाहर ले गये थे तब मैंने मार्गमें एक कुष्ठरोगीको देखा। उसे देखकर मैं उदास हो गया और मैंने इनसे पूछा, तब पता लगा कि पूर्वके बड़े भारी पापोंके कारण यह रोग होता है।

राजा बोला—पाप कोई चीज नहीं है। यह तो इस मन्त्री-जैसे मूर्खोंकी कल्पना है। तुमने जिस कुष्ठीको देखा है, वह वैसा ही जन्मा है और वैसा ही रहेगा। तुमसे उसकी क्या तुलना ? तुम जैसे हो, वैसे ही जन्मे थे और वैसे ही रहोगे।

फिर राजाने कुपित होकर मन्त्रीसे कहा—तुम्हारी बुद्धिपर बड़ी तरस आती है, तुमने इस लड़केको क्यों बहका दिया ?

मन्त्री बोला—सरकार ! इस विषयमें मैं जैसा समझता था, वैसा ही मैंने कहा।

जनार्दनने फिर कहा—उसके बाद रास्तेमें मुझे एक अत्यन्त दुखी बूढ़ा आदमी दिखायी दिया। मैंने पहले कभी वैसा आदमी नहीं देखा था। जानकारीके लिये मन्त्रीजीसे पूछनेपर उन्होंने बतलाया कि यह वृद्ध है, और जब मनुष्य बहुत बड़ी आयुका हो जाता है तब सभीकी ऐसी ही दशा होती है। यह देखकर मुझे चिन्ता हुई कि एक दिन मेरी भी यही दशा होगी।

राजा बोला—नहीं, कभी नहीं। जो वृद्ध होते हैं, वे वृद्ध ही रहते हैं और जो जवान होते हैं, वे जवान ही रहते हैं।

राजाने फिर क्रोधमें भरकर मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें यही सब शिक्षा देनेके लिये ही यहाँ नियुक्त किया गया था ?

मन्त्री बोला—राजकुमारके पूछनेपर मेरी जैसी जानकारी थी, वैसा ही मेरेद्वारा कहा गया।

राजाने कहा—धिक्कार तुम्हारी जानकारीको। क्या ये सब बातें बालकोंको कहनेकी होती हैं ?

फिर जनार्दन कहने लगा—पिताजी ! उसके बाद हम जब भ्रमण करके वापस लौट रहे थे तो मैंने देखा कि बहुतसे आदमी एक मरे हुए आदमीको जला रहे हैं और सब उसके चारों ओर खड़े हैं। उसी समय मैंने देखा कि नगरसे एक जुलूस वहाँ आ रहा है, चार आदमियोंने एक किसी चीजको कन्धोंपर उठा रक्खा है, कुछ लोग 'रामनाम सत्य' चिल्ला रहे हैं और उसके पीछे-पीछे कुछ आदमी रोते चले आ रहे हैं। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मन्त्रीजीसे पूछनेपर इन्होंने बतलाया कि 'किसी जवान आदमीकी मृत्यु हो गयी है। इसके घरवाले इसे श्मशानभूमिमें ला रहे हैं और ये रोनेवाले लोग इसके पिता-बन्धु आदि कुटुम्बी प्रतीत होते हैं। ये लोग इसके वियोगमें दुःखके कारण रो रहे हैं।' इस दृश्यको जबसे मैंने देखा, तबसे मुझे मृत्युकी चिन्ता लग रही है। मैं समझता हूँ कि जब मेरी मृत्यु होगी तब मेरी भी यही दशा होगी।

विष्वक्सेन बोला—इस पागल मन्त्रीकी बातपर तुम्हें ध्यान न देना चाहिये। जवान आदमीकी कभी मृत्यु हो ही नहीं सकती। इन्होंने जो कुछ कहा है, सब बेसमझीकी बात है।

फिर उसने मन्त्रीसे कहा—क्या तुम्हें हमारे लड़केको इस प्रकार बहकाना उचित था ? तुमने सचमुच मुझे बड़ा धोखा दिया !

विद्यासागरने हाथ जोड़कर कहा—सरकार ! पूछनेपर जो बात उस समय समझमें आयी, वही कही गयी।

जनार्दनने कहा—उसके बाद जब हमलोगोंने लौटकर शहरमें प्रवेश किया तब एक गेरुआ वस्त्रधारी पुरुष मिले। पूछनेपर मन्त्रीजीने बतलाया कि 'ये एक जीवन्मुक्त विरक्त महात्मा हैं। इन्होंने भजन-ध्यान और सत्सङ्ग-स्वाध्याय करके अपने आत्माका कल्याण कर लिया है, जिससे इन्हें हर समय परम शान्ति और परम आनन्द रहता है। ये भगवान्‌के परम धाममें चले जायँगे और फिर लौटकर कभी दुःखरूप संसारमें नहीं आयेंगे। वहीं नित्य परम शान्ति और परम आनन्दमें मग्न होकर रहेंगे। इन्हींका जन्म धन्य है।' उसी समयसे मेरे मनमें बार-बार ऐसा आता है कि क्या कभी मैं भी ऐसा बन सकूँगा। पूछनेपर पता लगा कि यह सब बातें श्रुति-स्मृति, इतिहास-पुराणोंमें लिखी हैं। अतः मैंने इन पुस्तकोंको मँगानेके लिये मन्त्रीजीसे कहा था, किंतु उन्होंने उत्तर दिया कि 'मैं आपके पिताजीका आदेश लेकर ही मँगा सकता हूँ।' अतएव पिताजी ! अब ये पुस्तकें मुझे शीघ्र मँगा दीजिये।

विष्वक्सेन बोला—बेटा ! ये सब पुस्तकें तुम्हारे देखने लायक नहीं हैं।

राजाने फिर मन्त्रीसे कहा—मालूम होता है, तुमने इन पुस्तकोंके नाम बतलाकर लड़केका मस्तक बिगाड़ दिया। तुम्हारी ही शिक्षाका यह फल है, जो मेरा यह सुकुमार सुन्दर राजकुमार इतनी छोटी उम्रमें ही संसारके विषय-भोगोंसे विरक्त होकर रात-दिन वैराग्य और ज्ञानकी चिन्तामें डूबा रहता है। मैंने जिस उद्देश्यसे तुमको नियुक्त किया था, उसका विपरीत परिणाम हुआ। तुम मेरे यहाँ रहनेयोग्य नहीं। तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, वहीं जा सकते हो।

विद्यासागर हाथ जोड़कर बोला—सरकार ! मेरी बेसमझीके कारणसे ही यह सब हुआ। लड़केने जो कुछ पूछा, मैंने अपनी समझके अनुसार ठीक-ठीक कह दिया, इसके लिये आप मुझे क्षमा करें।

विष्वक्सेनने कहा—आग लगे तुम्हारी ऐसी समझपर ! मेरा तो बसता हुआ घर ही तुमने उजाड़ दिया। मेरे यहाँ अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं। यह कहकर उसको मन्त्री-पदसे हटा दिया।

जनार्दन बोला—पिताजी ! आप ऐसा क्यों कर रहे हैं ? इसमें मन्त्रीजीका कुछ भी दोष नहीं है। इन्होंने तो जो कुछ कहा, उचित ही कहा और वह भी मेरे पूछनेपर ही कहा। मुझमें ज्ञान, वैराग्य और भक्तिका लेशमात्र भी नहीं है। हाँ, मैं चाहता हूँ कि मुझे ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी प्राप्ति हो जाय तो मैं भी जीवन्मुक्त महात्मा बनकर अपने आत्माका उद्धार कर लूँ। धन्य है उन पुरुषोंको, जिन्होंने संसारसे विरक्त होकर परमात्माके भजन, ध्यान, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें अपना जीवन बिताकर अपने आत्माका कल्याण कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दें, जिससे इस शरीर और संसारसे विरक्त होकर मेरा मन नित्य-निरन्तर परमात्मामें ही लगा रहे।

इसपर राजा विष्वक्सेनने राजकुमार जनार्दनको इसके विरुद्ध बहुत कुछ समझाया, परंतु उसके एक भी नहीं लगी। क्योंकि राजकुमार योगभ्रष्ट पुरुष तो था ही, मन्त्रीकी शिक्षाने भी उसके हृदयमें विशेष काम किया था। राजकुमार वैराग्यके नशेमें चूर हो गया। वह अहङ्कार और ममतासे रहित होकर संसारसे उपरत रहता हुआ परमात्माकी खोजमें जीवन बिताने लगा।

कुछ दिनों बाद जब उसे तीव्र वैराग्य और उपरति हो गयी, तब वह सहज ही राज्यकी ओरसे सर्वथा बेपरवाह होकर उन महात्माजीके पास चला गया, जिनसे बाल्यावस्थामें उसने यह श्लोक सुना था—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥

(गीता १३। ८)

इस श्लोकका भाव राजकुमार जनार्दनमें अक्षरशः संघटित था। उसने भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके लिये महात्माजीसे प्रार्थना की। तब महात्माजीने उसको आश्वासन देते हुए भक्ति, ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा दी। उन्होंने कहा—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

(गीता १३। ९-११)

अभिप्राय यह है कि स्त्री, पुत्र, गृह, शरीर और धन आदि पदार्थोंके साथ मनुष्यका विशेष सम्बन्ध होनेके कारण प्रायः इन्हींमें उसकी विशेष आसक्ति होती है। इन्द्रियोंके शब्दादि साधारण विषयोंमें वैराग्य होनेपर भी इनमें छिपी आसक्ति रह जाया करती है, इसलिये मनुष्यको 'आसक्तिका सर्वथा अभाव' करना चाहिये।

यहाँ 'अनभिष्वङ्ग'का अर्थ है—'ममताका अभाव।' ममत्वके कारण ही मनुष्यका स्त्री-पुत्रादिसे घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है। उससे उनके सुख-दुःख और लाभ-हानिसे वह स्वयं सुखी-दुखी होता रहता है। ममताके अभावसे ही इसका अभाव हो सकता है। इसलिये मनुष्यको इन सब पदार्थोंसे ममताका अभाव करना चाहिये।

अनुकूल व्यक्ति, क्रिया, घटना और पदार्थोंका संयोग तथा प्रतिकूलका वियोग सबको 'इष्ट' है। इसी प्रकार अनुकूलका वियोग और प्रतिकूलका संयोग 'अनिष्ट' है। इन 'इष्ट' और 'अनिष्ट'के साथ सम्बन्ध होनेपर हर्ष-शोकादिका न होना अर्थात् अनुकूलके संयोग और प्रतिकूलके वियोगसे चित्तमें हर्ष आदि न होना तथा प्रतिकूलके संयोग और अनुकूलके वियोगसे किसी प्रकारके शोक, भय और क्रोध आदिका न होना—सदा ही निर्विकार, एकरस सम रहना—इसको 'इष्ट और अनिष्टकी उपपत्तिमें समचित्तता' कहते हैं।

भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ हैं और वे ही हमारे स्वामी, शरण ग्रहण करने योग्य, परम गति, परम आश्रय, माता-पिता, भाई-बन्धु, परम हितकारी, परम आत्मीय और सर्वस्व हैं; उनको छोड़कर हमारा अन्य कोई भी नहीं है—इस भावसे जो भगवान्के साथ अनन्य सम्बन्ध है, उसका नाम 'अनन्य-योग' है। इस प्रकारके सम्बन्धसे केवल भगवान्में ही अटल और पूर्ण विशुद्ध प्रेम करके निरन्तर भगवान्का ही भजन, ध्यान करते रहना ही 'अनन्ययोगके द्वारा भगवान्में अव्यभि-चारिणी भक्ति करना' है।

इस प्रकारकी भक्ति करनेवाले मनुष्यमें न तो स्वार्थ और अभिमानका लेश रहता है और न संसारकी किसी भी वस्तुमें उसका ममत्व ही रह जाता है। संसारके साथ उसका भगवान्‌के सम्बन्धसे ही सम्बन्ध रहता है, किसीसे भी किसी प्रकारका स्वतन्त्र सम्बन्ध नहीं रहता। वह सब कुछ भगवान्‌का ही समझता है तथा श्रद्धा और प्रेमके साथ निष्काम-भावसे निरन्तर भगवान्‌का ही चिन्तन करता रहता है। उसकी जो भी क्रिया होती है, वह सब भगवान्‌के लिये ही होती है।

साधकको सदा विविक्त देशका सेवन करना चाहिये। जहाँ किसी प्रकारका शोर-गुल या भीड़-भाड़ न हो, जहाँ दूसरा कोई न रहता हो, जहाँ रहनेमें किसीको भी आपत्ति या क्षोभ न हो, जहाँ किसी प्रकारकी गंदगी न हो, जहाँ काँटे-कंकड़ और कूड़ा-कर्कट न हों, जहाँका प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हो, जहाँके जल-वायु और वातावरण निर्मल और पवित्र हों, किसी प्रकारकी बीमारी न हो, हिंसक प्राणियोंका और हिंसाका अभाव हो और जहाँ स्वाभाविक ही सात्त्विकताके परमाणु भरे हों—ऐसे देवालय, तपोभूमि, गङ्गा आदि पवित्र नदियोंके तट और पवित्र वन, गिरि-गुहा आदि निर्जन एकान्त और शुद्ध देशको 'विविक्तदेश' कहते हैं; तथा ज्ञानको प्राप्त करनेकी साधनाके लिये ऐसे स्थानमें निवास करना ही उसका सेवन करना है।

साधकका कभी भी प्रमादी और विषयासक्त मनुष्योंके समुदायमें प्रेम नहीं होना चाहिये। यहाँ 'जनसंसदि' पद 'प्रमादी और विषयासक्त' सांसारिक मनुष्योंके समुदायका वाचक है। ऐसे लोगोंके सङ्गको साधनमें सब प्रकारसे बाधक समझकर उससे विरक्त रहना ही उनमें प्रेम नहीं करना है। संत, महात्मा और साधक पुरुषोंका सङ्ग तो साधनमें सहायक होता है; अतः उनके समुदायका वाचक यहाँ 'जनसंसदि' पद नहीं समझना चाहिये।

आत्मा नित्य, चेतन, निर्विकार और अविनाशी है, उससे भिन्न जो नाशवान्, जड, विकारी और परिवर्तनशील वस्तुएँ प्रतीत होती हैं—वे सब अनात्मा हैं, आत्माका उनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है—शास्त्र और आचार्यके उपदेशसे इस प्रकार आत्मतत्त्वको भलीभाँति समझ लेना ही 'अध्यात्म-ज्ञान' है और बुद्धिमें ठीक वैसा ही दृढ़ निश्चय करके मनसे उस आत्मतत्त्वका नित्य-निरन्तर मनन करते रहना 'अध्यात्मज्ञानमें नित्य स्थित रहना' है।

तत्त्वज्ञानका अर्थ है—सच्चिदानन्दघन पूर्णब्रह्म परमात्मा; क्योंकि तत्त्वज्ञानसे उन्हींकी प्राप्ति होती है। उन सच्चिदानन्द-घन गुणातीत परमात्माका सर्वत्र समभावसे नित्य-निरन्तर ध्यान करते रहना ही उस अर्थका दर्शन करना है।

इस प्रकार उपदेश देकर महात्माजी चुप हो गये। राजकुमार पात्र तो था ही, महात्माजीकी शिक्षाके अनुसार साधन करनेसे उसे शीघ्र ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इधर दूसरे दिन प्रातःकाल जब राजा उठा तब पता लगा कि राजकुमार आज रातमें महलसे निकलकर कहीं चला गया। इधर-उधर चारों ओर बड़ी खोज करायी गयी, किंतु कहीं भी पता नहीं लगा। तब राजा विष्वक्सेन बहुत दुःखित हो गया।

कुछ दिनों बाद राजा उन महात्माजीके दर्शन करने गया, जिनके बतलाये हुए अनुष्ठानसे राजकुमार उत्पन्न हुआ था। राजाने महात्माजीको साष्टाङ्ग अभिवादन किया और कहा—'महाराजजी! आपने मुझको जो लड़का दिया था, वह कई दिनोंसे लापता हो गया है।'

महात्माजीने कहा—क्या तुमको पता नहीं, वह तो कई दिनोंसे मेरे पास है। वह सदा-सर्वदा ज्ञान-ध्यानमें निमग्न रहता है। उसने तो अपने जीवनको सफल बना लिया। मैंने तो तुमसे पहलेसे ही कहा था कि यह लड़का एक बहुत उच्चकोटिका विरक्त महापुरुष बननेवाला है, वही बात आज प्रत्यक्ष हो गयी। राजन्! तुम्हारा जन्म भी धन्य है, जो तुमने ऐसे पुत्रको जन्म दिया और यह लड़का तो सौभाग्यशाली है ही।

राजकुमारकी इतनी शीघ्र और आशातीत उन्नति सुनकर और फिर उसकी स्थितिको प्रत्यक्ष देखकर राजाको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। उसे जो पुत्रके घरसे निकल जानेका दुःख था, वह सब शान्त हो गया। उसने अपना बड़ा सौभाग्य समझा।

तदनन्तर राजाने महात्माजीसे प्रार्थना की कि मुझे ऐसा कोई उपदेश करें, जिससे शरीर और संसारसे वैराग्य हो जाय। इसपर महात्माजीने बड़ी प्रसन्नतासे कहा—

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥

अभिप्राय यह है कि इस लोक और परलोकके जितने भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धरूप विषय-पदार्थ हैं—

अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जिनका भोग किया जाता है और अज्ञानके कारण जिनको मनुष्य सुखके हेतु समझता है, किंतु वास्तवमें जो दुःखके कारण हैं—उन सबमें प्रीतिका सर्वथा अभाव हो जाना 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' यानी इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य होना है।

मन, बुद्धि, इन्द्रिय और शरीर—इन सबमें जो 'अहं' बुद्धि हो रही है—अर्थात् अज्ञानके कारण जो इन अनात्म वस्तुओंमें आत्मबुद्धि हो रही है—इस देहाभिमानका सर्वथा अभाव हो जाना 'अनहङ्कार' कहलाता है।

जन्मका कष्ट सहज नहीं है। पहले तो असहाय जीवको माताके गर्भमें लंबे समयतक भाँति-भाँतिके क्लेश सहन करने पड़ते हैं, फिर जन्मके समय योनिद्वारसे निकलनेमें असह्य यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। नाना प्रकारकी योनियोंमें बार-बार जन्म ग्रहण करनेमें ये जन्म-दुःख होते हैं। मृत्युकालमें भी महान् कष्ट होता है। जिस शरीर और घरमें आजीवन ममता रही, उसे बलात्कारसे छोड़कर जाना पड़ता है। मरणसमयके निराश नेत्रोंको और शारीरिक पीड़ाको देखकर उस समयकी यन्त्रणाका बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। बुढ़ापेकी यन्त्रणा भी कम नहीं होती; इन्द्रियाँ शिथिल और शक्तिहीन हो जाती हैं, शरीर जर्जर हो जाता है, मनमें नित्य लालसाकी तरङ्गें उछलती रहती हैं, असहाय अवस्था हो जाती है। इस अशक्त अवस्थामें जो कष्ट होता है, वह बड़ा ही भयानक होता है। इसी प्रकार बीमारीकी पीड़ा भी बड़ी दुःखदायिनी होती है। शरीर क्षीण हो गया, नाना प्रकारके असह्य कष्ट हो रहे हैं, दूसरोंकी अधीनता है। निरुपाय स्थिति है। यही सब जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिके दुःख हैं। इन दुःखोंको बार-बार स्मरण करना और इनपर विचार करना ही इनमें दुःखोंको देखना है।

जीवोंको ये जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि प्राप्त होते हैं—पापोंके परिणामस्वरूप; अतएव ये चारों ही दोषमय हैं। इसीका बार-बार विचार करना इनमें दोषोंको देखना है।

यों तो एक चेतन आत्माको छोड़कर वस्तुतः संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसमें ये चारों दोष न हों। जड मकान एक दिन बनता है, यह उसका जन्म हुआ; कहींसे टूट-फूट जाता है, यह व्याधि हुई; मरम्मत करायी, इलाज हुआ; पुराना हो जाता है, बुढ़ापा आ गया, अब मरम्मत नहीं हो सकती। फिर जीर्ण होकर गिर जाता है, मृत्यु हो गयी। छोटी-बड़ी सभी चीजोंकी यही अवस्था है। इस प्रकार जगत्की प्रत्येक वस्तुको ही जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधिमय देख-देखकर उनसे वैराग्य करना चाहिये।

महात्माजीके इस सुन्दर उपदेशको सुनकर राजा अपने राजमहलपर लौट आया और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न करने लगा। इससे थोड़े ही समयमें राजाको शरीर और संसारसे तीव्र वैराग्य हो गया। तब रानीको साथ लेकर राजा पुनः महात्माजीके पास गया और बोला—'आपके उपदेशसे मुझे बहुत लाभ हुआ। अब मेरी यह इच्छा है कि जनार्दनका युवराजपदपर अभिषेक करके मैं भक्ति, ज्ञान, वैराग्यमें ही अपना शेष जीवन बिताऊँ।' इसपर महात्माजीने जनार्दनको बुलाकर कहा—'वत्स! तुम राज्यका कार्य करो, अब तुम्हें कोई भय नहीं है। अतः अब अपने पिताजीको अवकाश दो, जिससे ये भी भजन-ध्यान करके अपने आत्माका कल्याण करें।'

जनार्दन नित्य विज्ञानानन्दघन परमात्मामें स्थित था ही, वह बड़ी प्रसन्नतासे पिताके आज्ञानुसार राज्यकार्य करने लगा। अब रानीके सहित राजा विष्वक्सेन समय-समयपर महात्माजीका सत्सङ्ग करने लगा और उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार तत्परतासे चेष्टा भी करने लगा।

एक दिन राजा विष्वक्सेनने महात्माके चरणोंमें नमस्कार करके उनसे विनय और करुणाभावपूर्वक प्रार्थना की—'महाराजजी! मुझे भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी ऐसी शिक्षा दीजिये, जिससे मेरी भी स्थिति जनार्दनकी भाँति नित्य-निरन्तर अटल हो जाय।'

तब महात्माजीने जो शिक्षा विस्तारपूर्वक जनार्दनको दी थी, वही राजाको भी दी। महात्माजीकी शिक्षा सुनकर राजा और रानी—दोनोंने श्रद्धा और प्रेमपूर्वक बड़ी लगनके साथ उनके बतलाये हुए साधनके अनुसार प्रयत्न किया, जिसके फलस्वरूप राजा और रानी दोनोंको ही परमात्माकी प्राप्ति हो गयी।

इस कहानीसे हमलोगोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि हम भी शरीर और संसारसे विरक्त राजकुमार जनार्दनकी भाँति ऊपर बतलाये हुए साधनके अनुसार अपने बचे हुए जीवनको ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, सत्सङ्ग और स्वाध्यायमें लगाकर सफल बनावें।

भगवद्भजनका स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

श्रीभगवान् कहते हैं—

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ।'

—इस भगवद्वचनके अनुसार हमें तुरंत भगवद्भजनमें लग जाना चाहिये । श्रीभगवान्‌ने इस श्लोकार्धमें बतलाया कि 'अनित्यम् असुखम् इमम् लोकम् प्राप्य माम् भजस्व ।' अनित्य कहनेका तात्पर्य यह कि देर न करो, क्या पता है—

दम आया न आया खबर क्या है ?
दम आया न आया खबर क्या है ?

यदि अभी श्वास बंद हो जाय तो फिर कुछ भी न हो सकेगा । विचारी हुई बातें सब वैसी-की-वैसी ही रह जायँगी, सब गुड़ गोबर हो जायगा । क्योंकि शरीर क्षणभङ्गुर है, यह एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता, प्रतिक्षण बड़ी तेजीसे जा रहा है और जा रहा है उस मृत्युकी ओर, जिसको कोई नहीं चाहता । वही मृत्यु प्रतिक्षण समीप आ रही है । प्रतिघंटा ९०० श्वास जा रहे हैं, २४ घंटोंमें २१६०० श्वास चले जाते हैं । जरा इस ओर ध्यान देना चाहिये । खर्च तो यह हो रहा है और कमाई क्या कर रहे हैं ? किस बातकी प्रसन्नता है ?

छः सो सहस इकीस दम जावत हैं दिन रात ।
एतो टोटो ताहि घर काहेकी कुसलात ॥

दूसरा पद कहा है—'असुखम्' यानी यहाँ इस लोकमें सुख नहीं है । यह लोक सुखरहित है । इतनी ही बात नहीं है, भगवान् तो कहते हैं कि 'दुःखालयमशाश्वतम्' । दुःखालय है । किंतु हम तो इसमें ठीक इसके विपरीत सुख ढूँढ़ते हैं, यह कितने आश्चर्यकी बात है । जैसे कोई आदमी विद्यालयमें धोती जोड़ा आदि कपड़ा खोजे, औषधालयमें मिठाईका भाव पूछे, ऐसे ही हम इस दुःखालयमें सुख ढूँढ़ रहे हैं । इस संसारमें सुखकर वस्तुएँ मानी जाती हैं—धन, स्त्री, पुत्र, घर और भोग । इन सबमें विचार करके देखें तो वास्तवमें सुख है ही नहीं, आदि-अन्तमें सर्वत्र दुःख-ही-दुःख है ।

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है कि हमें वही वस्तु सुख दे सकती है, जिसका हमारे पास अभाव है और हम जिसे चाह रहे हैं । उसके लिये चाहना जितनी ही बलवती होगी, उतना ही उस वस्तुके मिलनेपर सुख अधिक होगा । अभाव रहते हुए भी यदि उसके अभावका अनुभव नहीं है यानी उसके लिये छटपटाहट नहीं है तो वह वस्तु प्राप्त होकर भी हमें सुखी नहीं बना सकती । अतः धन आदि पदार्थोंसे सुख प्राप्त करनेके लिये पहले धनके अभावका दुःख अत्यावश्यक है । यह तो हुआ उनसे होनेवाला पहला दुःख । फिर वे धनादि पदार्थ मनोरथके अनुसार प्रायः मिलते नहीं हैं । यह हुआ दूसरा दुःख । मिल भी जायँ तो हमसे दूसरेको अधिक मिल जाते हैं तो वह एक नया दुःख खड़ा हो जाता है और मिलनेपर उसके नाशकी आशङ्का बनी ही रहती है, जो महान् चिन्ताका कारण है । एवं होकर नष्ट हो जानेपर तो बहुत ही कष्ट भोगना पड़ता है । उस समय जो दुःख होता है, वह उसके अभावके समय नहीं था । श्रीपतञ्जलिने कहा है—

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।

'परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—ऐसे तीन प्रकारके दुःख सबमें विद्यमान रहनेके कारण और तीनों गुणोंकी वृत्तियोंमें परस्पर विरोध होनेके कारण विवेकीके लिये सब-के-सब (कर्मफल) दुःखरूप ही हैं ।'

मायाकी मोहिनी वृत्तिसे ही यह अनुभव होता है कि धनादि पदार्थोंके इतने रूपमें प्राप्त हो जानेपर हम बहुत सुखी हो जायँगे। ऐसी आशा और कथन तो हम सुनते आ रहे हैं पर अभीतक ऐसा संसारी मनुष्य कोई नहीं मिला जो कि यह कह दे कि हम पूर्ण सुखी हो गये हैं, प्रत्युत यह कहते तो प्रायः सभी देखे जाते हैं कि 'हम तो पहलेसे भी अधिक दुखी हैं।' कहा भी है—

एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं
गच्छाम्यहं पारमिवाणवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे
छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति॥

'जबतक समुद्रको पार करनेकी तरह एक दुःखका अन्त नहीं होता कि उसी बीचमें दूसरा दुःख आ धमकता है; ठीक ही तो है, अभावोंमें तो अनर्थोंकी बहुलता होती ही है।'

एक वस्तुके अभावका अनुभव होनेपर उसकी पूर्तिके लिये चेष्टा करते हैं, किंतु प्रायः उसकी सिद्धि होती नहीं; कहीं दैवसंयोगसे हो भी जाती है तो फिर उसमें कई अन्य नये-नये अभावोंकी सृष्टि होने लगती है, जिनकी कि पहले कभी सम्भावना ही नहीं थी। इसीलिये श्रीभगवान्‌ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

'विषय और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे होनेवाले जितने भी सांसारिक सुख हैं, सब-के-सब ही दुःखयोनि यानी दुःखोंकी प्रसवभूमि—दुःखोंको पैदा करनेवाली हैं; एवं उत्पत्ति और विनाशसे संयुक्त हैं, अतः हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी मनुष्य उनमें नहीं रमता।'

विचार करके देखा जाय तो किसी भी सांसारिक प्राणीको अपनी परिस्थितिमें पूर्ण सुख और सन्तोष नहीं है, क्योंकि वह उससे भी और अधिक सुखके लिये सदा लालायित तथा प्रयत्नशील रहता है। शास्त्रमें बतलाया है—

न सुखं देवराजस्य न सुखं चक्रवर्तिनः।
तत्सुखं वीतरागस्य मुनेरेकान्तशीलिनः॥

किसी राजस्थानी कविने भी बड़ा ही सुन्दर कहा है—

ना सुख काजी पण्डितां ना सुख भूप भयाँ।
सुख सहजां ही आवसी तृष्णा-रोग गयाँ॥

तीसरी बात कहते हैं कि 'इमम् लोकम् प्राप्य'। यहाँ 'इमम् लोकम्'—इन पदोंसे संकेत है मनुष्य-शरीरकी ओर; भगवान् कहते हैं कि इस मानव-शरीरको प्राप्त करके तो मेरा भजन ही करना चाहिये, क्योंकि—

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

अतएव इस मानवदेहको प्राप्त करके तो केवल भगवद्भजन ही करना चाहिये, क्योंकि दूसरे-दूसरे काम तो अन्यान्य शरीरोंमें भी हो सकते हैं। पर भजनका अवसर तो केवल इसी शरीरमें है। देवादि शरीरोंमें तो भोगोंकी भरमार है तथा वहाँ अधिकार न होनेसे भी भजन कर नहीं सकते; और नरकोंमें केवल पापोंके फलोंका भोग होता है, वहाँ नया कर्म करनेका न अधिकार है और न उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान ही है। इसी प्रकार अन्य चौरासी लाख योनियोंमें भी कर्तव्याकर्तव्यका कुछ भी ज्ञान नहीं रहता, तथा साधन-सामग्री नहीं और अधिकार भी नहीं। अधिकार, ज्ञान और सामग्री—ये तीनों केवल इस मानव-शरीरमें ही हैं। (कहीं-कहीं पशु-पक्षी आदिकोंमें जो भगवद्भक्ति आदि देखनेमें आती हैं तो वे अपवादस्वरूप ही हैं।)

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोस लगाइ॥

इस कथनपर हमें ध्यान देकर विचार करना चाहिये। जो मनुष्य-शरीर पाकर साधन नहीं करते, वे कहते हैं—'यह कलियुग है। समय बड़ा बुरा है। इस समय चारों ओर पाप-ही-पापका प्रचार हो रहा है, सत्य, अहिंसा आदि धर्मोंका पालन तथा भगवद्भजन हो ही नहीं सकता। यह कलिकाल बड़ा विकराल युग है, सबकी बुद्धि अधर्ममें लग रही है, क्या करें, समयकी बलिहारी है। जब सब-का-सब वायुमण्डल ही बिगड़ा हुआ है तब एक मनुष्य क्या कर सकता है। यदि हम समयके अनुसार न चलें तो निर्वाह होना कठिन है और उसके अनुसार चलें तो पारमार्थिक साधन नहीं बन पाता।' किंतु इसपर हमें विचार करना चाहिये; क्या हम सचमुच समयके अनुसार चलते हैं? कभी नहीं। जब शीतकाल आता है तब गर्म कपड़े बनवाते हैं, आग आदिका यथोचित प्रबन्ध करते हैं, घरमें कमरा बंद करके रहते हैं—क्या यह समयके प्रतिकूल चलना नहीं है? ऐसे ही गर्मीके दिनोंमें ठंडे जल आदिका प्रयोग करते हैं, गर्मीसे बचनेके लिये सतत सावधान रहते हैं और वर्षामें भी यथायोग्य उपायोंसे उससे भी त्राण पानेकी चेष्टा करते ही रहते हैं। अर्थात् सभी समय शरीरकी प्रतिकूलताके निवारण, उससे रक्षा एवं शरीरके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये चेष्टा करते रहते हैं। इसी प्रकार हमें कलिकालसे आध्यात्मिकताको बचानेकी चेष्टा करनी चाहिये। जैसे शरीरकी रक्षा न करनेपर शरीरका नाश हो जाता है, ऐसे ही आध्यात्मिक जीवनकी रक्षा न करनेसे उस लाभसे सर्वथा वञ्चित रहनेके लिये बाध्य होना पड़ेगा।

अतः समयको दोष देना मिथ्या है, क्योंकि इसमें भगवद्भजनका मूल्य बहुत मिलता है, बड़े सस्तेमें मुक्ति मिल जाती है, जैसी कि दूसरे युगोंमें सम्भव नहीं थी। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥

इसलिये बिना प्रयास ही जिसमें संसारसमुद्रसे पार पहुँचा जा सके, ऐसे कलियुगको दोष देना सरासर भूल है।

इसी प्रकार जिन कर्मोंके फलस्वरूप मुक्तिका साधनरूप मानव-शरीर प्राप्त हुआ है, उन कर्मोंको दोष देना भी मिथ्या है। क्योंकि—

बड़ें भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥
बड़े भाग पाइब सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहिं भव भंगा॥

ईश्वरने भी बड़ी भारी कृपा कर दी कि जिससे कर्मोंका सब सम्बन्ध जुटाकर यानी इस समय मानव-शरीरके योग्य कर्म न रहनेपर भी मानव-शरीर देकर आत्मोद्धारके लिये सुअवसर दे दिया। एक राजस्थानी कविने कहा है—

करुणाकर कीन्ही कृपा दीन्ही नरवर देह।
ना चीन्ही कृतहीन नर खल कर दीन्ही खेह॥

'करुणानिधि भगवान्‌ने कृपा करके श्रेष्ठ मनुष्यशरीर दे दिया, परंतु मूर्ख और कृतघ्न मनुष्यने उस शरीरको पहचाना नहीं, प्रत्युत उसे यों ही मिट्टीमें मिला दिया।'

ऐसे अकारण कृपालुको यह कहकर कि 'क्या करें, भगवान्‌ने हमें ऐसा ही बना दिया, उन्होंने हमको संसारी बनाकर घरके काम-धंधोंमें फँसा दिया, कैसे भजन करें, भगवान्‌की मर्जी ही ऐसी है, वे कराते हैं तभी हम ऐसा करते हैं'—इत्यादि दोष देना मिथ्या है। तात्पर्य यह है कि मनुष्य उद्योग तो स्वयं करता नहीं और दोषारोपण करता है दूसरोंपर, तथा आप रहना चाहता है निर्दोष। ऐसे काम कबतक चलेगा—'कैसे निबहै रामजी रुई लपेटी आग!'

अतः विवेकपूर्वक विचार करके अपनी वास्तविक

उन्नतिके लिये कटिबद्ध होकर तत्परतासे खूब उत्साह-के साथ लग जाना चाहिये ।

भगवान्ने चौथी बात कही है—'माम् भजस्व ।' मुझको भजो । अब विचारंना यह है कि भगवान् क्या है और भगवान्का भजन क्या है । आजतक जैसा देखा, जैसा सुना और पढ़ा तथा उसके अनुसार भगवान्का साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण आदि जैसा स्वरूप समझा, वही भगवान् है । और इस प्रकारके भगवान्के स्वरूपको सर्वोपरि तथा परम प्रापणीय समझकर एकमात्र उनके शरण हो जाना ही भजन है अर्थात् जिह्वासे भगवान्के नामका जप, मनसे उनके स्वरूपका चिन्तन और बुद्धिसे उनका निश्चय करना; तथा शरीरसे उनकी आज्ञाओंका पालन करना; एवं सब कुछ उन्हींके समर्पण कर देना; और उनके प्रत्येक विधानमें परम संतुष्ट रहना; यह है भगवद्भजन ।

अब भगवद्भजनरूप शरणागतिके उक्त चारों प्रकारोंका कुछ स्पष्टीकरण किया जाता है ।

भगवान्के स्वरूपका चिन्तन करते हुए उनके परम पावन नामका नित्य-निरन्तर निष्कामभावसे परम श्रद्धापूर्वक जप करना और उन्हीं भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला आदिका मनन, चिन्तन, श्रवण और कथन करते रहना एवं चलते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते हर समय भगवान्की स्मृति रखना—यह शरणका पहला प्रकार है ।

दूसरा प्रकार है—भगवान्की आज्ञाओंका पालन करना । इसमें केवल इस बातकी ओर ध्यान देना है कि कहीं मन इन्द्रियोंके और शरीरके कहनेमें आकर केवल उनकी अनुकूलतामें ही न लग जाय; बल्कि यह विचार बना रहे कि भगवान्की आज्ञा क्या है—और यही विचारकर काम करता रहे । भगवदाज्ञा क्या है ? और वह कैसे प्राप्त हो ? इसका उत्तर यह है कि एक तो श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे भगवान्-के श्रीमुखके वचन हैं ही । दूसरे भगवत्प्राप्त महा-पुरुषोंके वचन भी भगवदाज्ञा ही हैं क्योंकि जिस अन्तःकरणमें स्वार्थ और अहङ्कार नहीं रहा, वहाँ केवल भगवान्की आज्ञासे ही स्फुरणा और चेष्टाएँ होती रहती हैं । तीसरे उन महापुरुषोंके आचरण ही हमारे लिये आदर्श हैं, क्योंकि भगवान्ने कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं । वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्यसमुदाय उसीके अनुसार बरतने लग जाता है ।'

चौथे, साधकके अपने राग-द्वेषरहित अन्तःकरण-की स्फुरणा भी भगवदाज्ञा समझी जा सकती है । पाँचवें, कोई भी मनुष्य अपने स्वभावके अनुकूल ही आज्ञा देता है, अतः उन परम दयालु प्रभुके स्वभावको समझना चाहिये कि श्रीभगवान् आज्ञा देंगे तो अपने स्वभावके अनुसार ही तो कहेंगे, क्योंकि वे सर्वसुहृद् हैं । इससे जिस कार्यमें अपने स्वार्थका त्याग और जीवमात्रका परम कल्याण हो, जिसमें किसीका भी अहित न हो, वह श्रीभगवान्की आज्ञा है । इस प्रकार उनकी आज्ञाका रहस्य समझकर उसके अनुकूल चलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिये, बल्कि उसीको अपना परम धर्म समझकर उसीके अनुसार प्राणपर्यन्त चलनेकी चेष्टा करनी चाहिये—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः ।'

तीसरा प्रकार है—सर्वस्व प्रभुके समर्पण कर देना । वास्तवमें तो सब कुछ है ही भगवान्का । क्योंकि न तो हम जन्मके समय कुछ साथ लाये और न जाते समय कुछ ले ही जायँगे; तथा न यहाँ रहते हुए भी किसी भी वस्तु तथा शरीरादिकोंको हम अपने मनके अनुसार चला

ही सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि हमारा कुछ भी नहीं है, सब कुछ केवल भगवान्‌का ही है और उन्हींके अधीन है। फिर भी हमने उन सबमें भ्रमसे जो अपनापन बना रक्खा है, उसे उठा लेना है।

'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।'

चौथा प्रकार है—भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परम प्रसन्न रहना। उसमें भी अनुकूलतामें तो प्रसन्नता रहती ही है, प्रतिकूलतामें वैसी नहीं रहती। वास्तवमें तो अनुकूलतामें जो प्रसन्नता रहती है, वह भगवद्विधान मानकर होनेवाली प्रसन्नता नहीं है, वह तो मोहपूर्वक है। भाव यह कि अपने शरीर, इन्द्रियाँ और अन्तःकरणकी अनुकूलताको लेकर जो प्रसन्नता होती है, वह मोहजनित है। उसे विवेकके द्वारा हटाकर 'भगवान्‌ने ही यह विधान किया है और यह मेरे लिये परम मङ्गलमय है'—इस प्रकार समझनेपर जो प्रसन्नता होगी, वही भगवान्‌के नाते होगी। फिर प्रतिकूलतामें भी दुःखकी बात नहीं रह जायगी। इस प्रकार भगवान्‌का विधान मान लेनेपर अनुकूल-प्रतिकूल सभी अवस्थाओंमें भगवान्‌की स्मृति बढ़ती रहेगी, क्योंकि वह परिस्थिति भगवान्‌की ही बनायी हुई है; यह प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर फिर मनुष्य भगवान्‌को कैसे भूल सकेगा। ऐसा हो जाय तभी यह समझा जा सकता है कि हमने सभी अवस्थाओंको भगवान्‌का विधान समझा है।

विचारकर देखनेसे मन, इन्द्रियाँ और शरीरकी प्रतिकूल घटनामें एक लाभ और अधिक है। अनुकूल घटनासे पुण्य क्षीण होते हैं और प्रतिकूल घटनासे पाप नष्ट होते हैं। तथा पापोंका विनाश ही हमारे लिये हित है एवं पुण्योंका विनाश ही हमारे लिये अहितकर है। दूसरी बात यह है कि प्रतिकूलतामें ही मनुष्यका विकास होता है, अनुकूलतामें तो उन्नतिकी रुकावट होती है। अतः प्रभु जितनी ही प्रतिकूलता भेजते हैं, उतना ही वे हमारा परम हित कर रहे हैं। बच्चेके जैसे मैला लग जाता है तब मा उसे धोती है तो बालकको वह स्नान कराना बुरा लगता है, वह रोता है, चिल्लाता है, किंतु मा उसकी चाहकी कोई परवा न करके उसे साफ कर ही देती है। ऐसे ही पापोंका विनाश करनेमें प्रभु हमारी सलाह न लेकर हमारे रोने और चिल्लानेकी ओर कुछ भी ध्यान न देकर हमें शुद्ध कर ही देते हैं। और जैसे सुनार जिस सोनेको अपनाना चाहता है, उसको अधिक साफ करता है, ऐसे ही प्रभु जिस भक्तको पूर्वपापोंके अनुसार अधिक कष्ट देते हैं तो उसे यह समझना चाहिये कि अब प्रभु मुझे अपना रहे हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ही मेरे पापोंका विनाश कर रहे हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।
करोमि बन्धुविच्छेदं स तु दुःखेन जीवति ॥

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, धीरे-धीरे उसका समस्त धन हर लेता हूँ। तथा उसका बन्धु-बान्धवोंसे वियोग कर देता हूँ, जिससे वह दुःखपूर्वक जीवन धारण करता है।'

एक बात और विचारनेकी है। भगवान् जब हमारे मनकी सुन लेते हैं अर्थात् हमारे अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं तब हमें संकोच होना चाहिये कि कहीं भगवान्‌ने हमारा मन रखकर हमारे लिहाजसे तो ऐसा नहीं कर दिया है। यदि हमारा मन रखनेके लिये किया है तो यह ठीक नहीं होगा। क्योंकि मन माफिक करते-करते तो बहुत-से जन्म व्यतीत कर दिये, अब तो ऐसा नहीं होना चाहिये। अब तो वही हो, जो भगवान् चाहते हैं। बस, भक्तकी यही चाह रहती है। अतः वह भगवान्‌के विधानमात्रमें परम प्रसन्न रहता है, फिर चाहे वह विधान मन, इन्द्रिय और शरीरके प्रतिकूल हो या अनुकूल। क्योंकि केवल प्रभुका विधान मानकर चलनेपर तो अनुकूलता-प्रतिकूलता—दोनोंमें परम मङ्गल-

ही-मङ्गल भरा है। अतः वह अपना मनोरथ भगवान्से अलग नहीं रखता, भगवान्की चाहमें ही अपनी चाहको मिला देता है।

इस प्रकार भगवान्का चिन्तन, भगवदाज्ञापालन, सर्वस्व भगवत्समर्पण और भगवद्विधानमें परम प्रसन्न रहना ही भगवद्भजन है।

अतएव हम सबको चाहिये कि बहुत शीघ्र भगवद्भजनके ही परायण हो जायँ। ऐसे परायण हो जायँ कि भगवान्का भजन करते-करते वाणी गद्गद हो जाय, चित्त द्रवित हो जाय, मन भगवान्में ही लग जाय। फिर भजन करना न पड़े, स्वाभाविक ही होने लग जाय, तभी भजन भजन है, नहीं तो भजनकी नकल है; क्योंकि जो भजन किया जाय, वह नकली होता है और जो स्वतः बनने लग जाय, वह असली होता है। न होनेसे तो भजनकी नकल भी बड़ी अच्छी है, नकलसे भी आगे जाकर असली बन सकता है। इसलिये—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।

सुखरहित और क्षणभङ्गुर इस मनुष्य-शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर भगवान्का ही भजन करना चाहिये।

श्रीकृष्णलीलाका चिन्तन

(४७)

एक दिन यही अघदैत्य शङ्खासुरका पुत्र था; देखनेमें अत्यन्त सुन्दर था। कामदेव-जैसी शोभा इसके अङ्गोंसे झरती रहती थी। पर था यह अतिशय अभिमानी। रूपके गर्वने इसे अंधा बना दिया था। बाह्य सौन्दर्यके अभावमें भी कोई आदरणीय, वन्दनीय हो सकता है—यह विवेकशक्ति यौवनके उन्मादने हर ली थी। ऐसे रूपमदोद्धत युवक असुरको अष्टावक्र मुनिकी आकृति देखकर हँसी न आवे, यह भी कभी सम्भव है? मुनिपर दृष्टि पड़ते ही वह हँस पड़ा। उसकी विकट हँसी मलयाचलशृङ्गोंमें प्रतिनादित हो उठी, मानो चन्दन वनसे नित्य शीतल मलयगिरिके अन्तस्तलमें भी इस महदपराधसे रोषका आविर्भाव हो गया हो, और वह महीधर गरज उठा हो! अष्टावक्रका ध्यान तो उस ओर था ही नहीं, वे तो अपनी धुनमें अपने टेढ़े-मेढ़े शरीरकी स्वाभाविक वङ्किम गतिसे नीची दृष्टि किये चलते जा रहे थे। सहसा कानोंमें घृणाभरी ध्वनि आयी—'अरे, यह महाकुरूप है!' फिर तो मुनिके नेत्र ऊपर उठ गये। इस उक्तिका लक्ष्य कौन है, यह समझते उन्हें देर नहीं लगी। उनकी आँखें लाल हो आयीं। उनके-जैसे वीतराग मुनिजनोंमें भी क्रोधका अवकाश है, यह कल्पना नितान्त निरर्थक है। उनका यह क्षोभ तो—स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी अचिन्त्य-लीला महाशक्तिने सुदूर भविष्यकी भगवदीय लीलाका आयोजन करने जाकर मुनिके मनको अपना यन्त्र बना लिया—इसका एक निदर्शनमात्र है। जो हो, अन्तरका यह रोष वाग्वज्र बनकर बाहर निकला। मुनिश्रेष्ठ अष्टावक्र बोल उठे—

......................त्वं सर्पो भव दुर्मते।
कुरूपा वक्रगा जातिः सर्पाणां भूमिमण्डले॥

'रे दुष्टबुद्धि, जा, सर्प बन जा। भूमण्डलपर सर्पोंकी जाति ही कुरूप एवं कुटिल गतिवाली होती है।'

शङ्खासुर-तनयके रूपगर्वको चूर्ण-विचूर्ण कर देनेके लिये इतना पर्याप्त था। तत्क्षण ही वह मुनिके चरणोंमें लोट गया। अब अग्रिम कृपाप्रसाद प्राप्त होनेमें विलम्ब क्यों हो? अष्टावक्रने प्रच्छन्न अनुग्रहकी सूचना दे

दी—'जिस दिन कोटिकन्दर्पलावण्य श्रीकृष्णचन्द्र तुम्हारी उदरदरीमें प्रवेश करेंगे, उस दिन तुम्हारी सर्पयोनि छूट जायगी।'

कोटिकन्दर्पलावण्यः श्रीकृष्णस्तु तवोदरे।
यदा गच्छेत् सर्परूपात्तदा मुक्तिर्भविष्यति॥

इस प्रकार शङ्खासुर-पुत्रके सर्पकलेवरका आरम्भ हुआ। पर आगे चलकर किसी अचिन्त्य कारणवश पुनः उसमें असुरोंकी मायाशक्ति जाग्रत् हो उठी, यथेच्छ रूप धारण करनेकी क्षमता आ गयी और अघ दैत्यके रूपमें वह कंसका विशिष्ट परिकर बना। अवश्य ही सर्पाभिनिवेश उसमें निरन्तर जाग्रत् रहा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं; अतीतकी घटनाको वह सर्वथा भूल चुका था। मुनिके शापकी, वरदानकी उसे विस्मृति हो गयी थी। नामके अनुरूप ही चेष्टाशील होकर वह अघासुर अपने पापोंका घड़ा भर रहा था। और अन्तमें तो अपने त्राताको ही सदलबल वह मुखका ग्रास बना बैठा। फिर भी परिणाम जितना सुन्दर हुआ, उसका तो कहना ही क्या है—

मुनि दुर्लभ गति दीन, प्रभु परसै कौ फल मिल्यौ।

मुनिकी बात मिथ्या होनेकी ही नहीं थी। सत्य होकर ही रही। अस्तु,

जब श्रीकृष्णचन्द्र अघासुरके मुखसे बाहर निकल आये, फिर तो देववर्गके आनन्दका क्या कहना है! अपना इतना महान् कार्य करनेवाले—अघ-जैसे दैत्यका विनाश कर अभयदान देनेवालेके प्रति उन अन्तरिक्षवासियोंका हृदय न्यौछावर हो गया। उनके अन्तरका भाव-प्रवाह विभिन्न रूपोंमें व्यक्त होने लगा। आनन्दविह्वल हुए देववृन्दने नन्दनकाननके अतिशय सुरभित कुसुमोंकी अञ्जलि भर-भरकर अजस्र सुमन-वृष्टि आरम्भ की। अप्सराएँ छम-छम करती नृत्य करने लगीं। गन्धर्वोंके सुमधुर कण्ठकी स्वरलहरी, विद्याधरोंके वाद्ययन्त्रकी मनोहारिणी झङ्कृति सर्वत्र परिव्याप्त हो उठी। विप्रकुलका भक्तिपूरित स्तवन, भगवत्पार्षदोंका 'जय-जय' निनाद गगनके कण-कणको मुखरित करने लगा। जिनके पास जो वस्तु थी, जो कला थी, उसकी भेंट समर्पित कर वे श्रीकृष्णचन्द्रका अभिनन्दन करने लगे—

ततोऽतिहृष्टाः स्वकृतोऽकृताहणं
पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः।
गीतैः सुगा वाद्यधराश्च वाद्यकैः
स्तवैश्च विप्रा जयनिःस्वनैर्गणाः॥

(श्रीमद्भा० १०। १२। ३४)

लखि प्रभु चरित देव हरषाने।
बरषि सुमन हिय अति सुख माने॥
गान करहिं गंधर्व प्रवीने।
अप्सर करहिं नृत्य रस भीने॥
बिबिध भाँति के बजे बधाए।
द्विजवर करत विनय मन लाए॥
शंख शब्द जय शब्द अनेका।
दुंदुभि सुबर एक तें एका॥

भेरीका 'भम् भम्' रव, पटहपर निरन्तर आघात-जनित घोर शब्द, डिण्डिमका अति प्रचण्ड घोष, अविरल दुन्दुभिनाद, गन्धर्व, विद्याधर, किन्नर प्रभृतिका सम्मिलित गान, ऋषियोंका स्तोत्रपाठ—ये सभी परस्पर ऐसे मिल गये कि कुछ क्षण तो देवसमुदायकी श्रोत्रशक्ति अन्य किसी भी शब्दको ग्रहण करनेमें सर्वथा कुण्ठित हो गयी—

भेरीभाङ्काररावैः पटुपटहघनाघातसंघातघोरै-
रुच्चण्डैर्डिण्डिमानां ध्वनिभिरविरलैर्दुन्दुभीनां प्रणादैः।
गानैर्गन्धर्वविद्याधरतुरगमुखप्रेयसीनां मुनीनां
स्तोत्रैःशब्दान्तरेषु क्षणमिव बधिराःस्वर्गिणस्ते बभूवुः॥

(श्रीआनन्दवृन्दावनचम्पूः)

सचमुच अमरनगरी मानो इस प्रमोद-प्रवाहमें निमग्न होकर मत्त हो उठी—

मत्तेवासीदमरनगरी सागरीयप्रमोदैः।

अमरावतीका यह आनन्दोच्छ्वास जनलोक, महर्लोक, तपोलोकको मुखरित करते हुए सत्यलोकको

स्पर्श करने लगा । जगत्स्रष्टा पितामहकी सृजन-समाधि टूटी । आठों कर्णरन्ध्र देवोंके इस तुमुल आनन्द-कोलाहलसे पूर्ण हो उठे । पितामहके आश्चर्यका पार नहीं । अकस्मात् विबुधवृन्दकी इस आनन्दद्युतिके कारणका अनुसन्धान पानेके लिये वे चञ्चल हो उठे । परम अद्भुत स्तव-पाठ, सुमनोहर वाद्यवादन, रमणीय सङ्गीत-स्वर, जय-जयका विपुल नाद—इन सबसे सब ओर संपुटित महामहोत्सव एवं मङ्गलध्वनि, तथा यह भी अपने धामके अत्यन्त सन्निकट देशमें ही हो—फिर पद्मयोनि स्थिर कैसे बैठे रहें ? वे तुरंत वहाँसे नीचे उतर आये, सबसे अलक्षित रहकर ही नीचे उतरे । पर आ पहुँचे वहीं, उसी आकाशमें, जहाँ—जिसके अञ्चलमें वृन्दाविपिनविहारीके अघासुर-उद्धारका कौतुक अभी-अभी सम्पन्न हो चुका है । आते ही स्रष्टाको कारण ज्ञात हो जाता है तथा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रकी ऐसी महिमा प्रत्यक्ष निहारकर उनके आश्चर्यकी सीमा नहीं रहती—

तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतिका-
जयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।
श्रुत्वा स्वधाम्नोऽन्त्यज आगतोऽचिराद्
दृष्ट्वा महीशस्य जगाम विस्मयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३५)

अत्यन्त कलुषपूर्ण महाघृणित जीवन, एकमात्र परपीड़नका ही व्रत निभानेवाले अघासुरको ऐसी योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ गति मिली ! क्षणोंमें ही तो उसे श्रीकृष्णचन्द्रके चारु श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त हो गया, समस्त कल्मषराशि ध्वस्त हो गयी और अभक्तोंके लिये सुदुर्लभ सौभाग्य—भगवत्सारूप्य गतिकी प्राप्ति हो गयी ! किसे विस्मय नहीं होगा ? पर वास्तवमें आश्चर्यकी बात कुछ भी नहीं । जो सर्वस्रष्टा, सर्वनियन्ता, सर्वावतारावतारी हैं, उन स्वयं भगवान् नरबालकलील श्रीकृष्णचन्द्रके लिये ऐसी अयाचित कृपाका दान सर्वथा सम्भव है—

नैतद् विचित्रं मनुजार्भमायिनः
परावराणां परमस्य वेधसः ।
अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः
प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३८)

जिनके श्रीविग्रहकी मानस-प्रतिमाको ही केवल एक बार क्षणकालमात्रके लिये हृदयमें धारण कर लेनेके कारण न जाने कितनोंको परमभक्तजनोचित गतिकी प्राप्ति हो चुकी है, जिनकी मानसिक मूर्तिमें अपनी भावनासे कल्पित, ध्यानपथमें क्षणमात्रके लिये उतरी हुई प्रतिकृतिमें ही ऐसी सुदुर्लभ गति दे देनेकी सामर्थ्य है, वे श्रीकृष्णचन्द्र, नित्यसिद्ध परमानन्दघनविग्रह व्रजेन्द्र-नन्दन, स्वरूपानन्दास्वादनपरायण मायातीत श्रीहरि जब स्वयं उस अघासुरके मुखविवरमें प्रविष्ट हो गये, तब फिर अवशिष्ट ही क्या रहा ? स्वयं श्रीकृष्णचन्द्रको ही मुखमें धारण करनेवाले अघको यदि ऐसी परम सुन्दर गति मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है ? कुछ भी विचित्रता नहीं—

सकृद् यदङ्गप्रतिमान्तराहिता
मनोमयी भागवतीं ददौ गतिम् ।
स एव नित्यात्मसुखानुभूत्यभि-
व्युदस्तमायोऽन्तर्गतो हि किं पुनः ॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३९)

जो अखिलेस परावर स्वामी । सकल निर्यंता अंतरजामी ॥
माया मनुज तोक तनु धारी । कर्‌यो कर्म निज जन हितकारी ॥
नहि आचरज मानियहु कबहू । भयो अघासुर पावन अजहू ॥
महा अघी पाँवर सब भाँती । परसि अंग लहै सुगति सुहाती ॥
प्रतिमा जासु मनोमइ कोऊ । ध्यान करै कैसो किन होऊ ॥
लहै सुगति सो बिनहि प्रयासा । कंचन बपु सुत से अनयासा ॥
सदा नित्य सुख प्रभु भगवंता । सो प्रख्यात तोक श्रीकंता ॥
तासु अंग परसत भा पावन । महा अघो यह देव सतावन ॥
तौ आचरज कहा एहि माही । नाम लेत अघ कोटि नसाही ॥

और तो क्या, अघका वह महामलिन शरीर भी व्रजराजनन्दनकी सेवाका उपकरण बना । ऋषि-महर्षि केवल क्षणभरके लिये ध्यानपथमें ही जिनकी चरणरज-कणिकाका स्पर्श पानेके लिये लालायित रहते हैं, वे

श्रीकृष्णचन्द्र अघके उस सर्पकलेवरमें बहुत दिनोंतक सखाओंके साथ क्रीड़ा करते रहे, श्रीकृष्णचन्द्रके प्राणप्रिय सखाओंके खेलनेके लिये वह सर्प-शरीर शुष्क होकर गुफा-सा बन गया, वृन्दावनमें उन शिशुओंको विहारके उपयुक्त मानो एक परम सुन्दर अद्भुत गिरि-कन्दरा प्राप्त हो गयी—

राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेऽद्भुतम्।
व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम्॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३६)

हे नृप अजगर चर्म सुखाना। व्रज बालन कहँ खेल सुथाना॥
क्रीडा हेतु महा बिल मानी। खेलहिं बालक अति सुख मानी॥

किंतु सर्पगुफाकी क्रीड़ा आज अभी आरम्भ नहीं हुई। यह तो आजसे एक वर्षके अनन्तर प्रारम्भ होगी। ऐसी क्रीड़ा तभी सम्भव है जब श्रीकृष्णचन्द्रके सखा उनके साथमें हों। पर सखामण्डली तो आज अभी कुछ घड़ीके अनन्तर ही ठीक एक वर्षके लिये विश्राम करेगी, वर्षव्यापी निद्रासुखका अनुभव करने जायगी, सदाकी भाँति आज सन्ध्या-समय शिशुओंका व्रजप्रवेश नहीं होगा, अघासुर-उद्धारकी इतनी बड़ी घटनाकी गन्धतक किसी भी व्रजगोप, गोपसुन्दरीको एक वर्षके लिये न मिलेगी। गोपशिशु श्रीकृष्णचन्द्रकी इस कौमारलीला—अघमोक्षणकी चर्चा व्रजमें करेंगे अवश्य, पर करेंगे उस समय जब बाल्यलीलाविहारी श्रीकृष्ण-चन्द्रकी आयुका पौगण्ड आयेगा। आजकी घटित घटनाको वे सब एक वर्षके पश्चात् व्रजमें जाकर सुनायेंगे; और ऐसे सुनायेंगे मानो उस दिन ही अभी-अभी अघका विनाश हुआ हो, आज ही अघको सदाके लिये विदा कर वे सब सन्ध्यासमय व्रज लौटे हों; इतनी नवीन घटना हो—

एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम्।
मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे॥
(श्रीमद्भा० १० । १२ । ३७)

यह कुमार वय कृत हरि करमा। अहि मोचन रक्षन जन धरमा॥
कृत कुमार वय कर्म सब अहि मोचन प्रभु कीन।
सो पौगंड विषै कह्यो लरिकन्ह अबहि नवीन॥

इसी एक वर्षमें—श्रीकृष्णचन्द्रके कौमार-पौगण्डके मध्यकालमें विश्वको चमत्कृत कर देनेवाली ब्रह्ममोहन-लीला होगी। और अब उसीकी प्रस्तावना करने श्रीकृष्णचन्द्र तरणितनया श्रीयमुनाके प्रवाहकी ओर चल पड़ते हैं। इसी समय श्रीकृष्णचन्द्रके स्तवनसे—ऐश्वर्य-कीर्तनसे अपने आपको कृतार्थ कर लेनेके लिये गिराधिदेवी गोपशिशुओंके कण्ठका आश्रय ग्रहण करती हैं, अपनी अमित शक्ति वहाँ भर देती हैं। पर शिशुओं-के अन्तस्तलसे अनर्गल प्रवाहित सख्यरसकी प्रबल धारामें सुरसुन्दरीके भाव कहाँ-से-कहाँ बह जाते हैं। वे सब तो अपनी धुनमें अपने भावसे अपने कोटि-कोटि प्राणप्रतिम सखा कन्हैया भैयाके बल-वीर्यकी प्रशंसा करना चाहते हैं, कर रहे हैं, करते अघाते नहीं और सरस्वती उनके गीति-प्रवाहमें श्रीकृष्णचन्द्रका ऐश्वर्य बिखेरने लगती हैं। इसीलिये रह-रहकर बालकों-के मुखसे रससिक्त ऐश्वर्यकणके कुछ छींटे भी गिर ही जाते हैं। शिशु ही तो ठहरे। वे सब कितनी बार देख चुके हैं, जननी यशोदाके समक्ष उनकी माताएँ किस भाँति उनके नीलमणिकी प्रशंसा करती हैं। उस प्रणालीका अनुकरण तो इनके लिये स्वाभाविक है, वे करेंगे ही। और वहीं हंसवाहिनीको अवकाश भी मिल ही जाता है। जो हो, परमानन्दमें विभोर, श्रीयमुनाकी ओर अग्रसर होते हुए बालक अपने कन्हैया भैयाकी कीर्ति परस्पर एक दूसरेको सुना रहे हैं—

धन्य कान्ह, धनि नंद, धन्य जसुमति महतारी।
धन्य लियौ अवतार, कोखि धनि जहँ दैतारी॥
गिरि-समान तन अगम अति, पन्नगकी अनुहारि।
हम देखत पल एक मैं मारयौ दनुज प्रचारि॥

और श्रीकृष्णचन्द्र ? ओह ! जय हो लीलामयकी लीलाकी ! वे तो अघासुर-विजयका सम्पूर्ण श्रेय अपने सखाओंको ही देते जा रहे हैं—

हरि हँसि बोले बैन, संग जौ तुम नहिं होते ?
तुम सब कियौ सहाइ, भयौ तब कारज मोंते॥

सुख किस ओर ?

(लेखक—श्रीब्रह्मानन्दजी)

संसारमें जितने भी भौतिक पदार्थ मनुष्यको उसके उपयोगके लिये मिले हैं, उनकी एक परिमित मात्रा ही उसे अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये काममें लानी है। यदि किसीके पास अपनी आवश्यकताओंसे अधिक जमा हो जाय तो उसे वहाँ लगा देना चाहिये, जहाँ उसकी कमी हो, जहाँ उसकी आवश्यकता हो; क्योंकि सारा मनुष्य-परिवार तो एक ही है। किसीकी आवश्यकता-को पूरा करनेके लिये उस वस्तुको लगा देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। हमारा आत्मा हमारे ही व्यक्तिगत शरीर और हमारे ही परिवारतक सीमित नहीं है; बल्कि सारा जगत् उसका विराट्-शरीर है। अतएव किसी 'और' को देना वास्तवमें अपनेको ही देना है। यही हमारे पास अपनी साधारण आवश्यकताओंसे अधिक एकत्रित हुई वस्तुओंका सदुपयोग है।

औरोंको भी यदि हम अपने ही समझते हुए उनके सुख-दुःखमें भाग लेते हैं तथा अपने तन, मन, धनसे आवश्यकतानुसार उनकी सहायता करते हैं तो हम अपनेको ही विस्तीर्ण करते हैं—फैलाते हैं, सीमासे असीमकी ओर प्रगति करते हैं; पञ्चभूतोंकी बनी इस साढ़े तीन हाथकी काल-कोठरीके कैदखानेसे अपनेको मुक्त कर उस असीम साम्राज्यके मालिक बन जाते हैं जिसमें सबको ध्वंस करनेवाला बली काल भी सदाके लिये समा जाता है। अपनेको मिली हुई वस्तुओंका सर्वात्मभावपूर्वक इस प्रकार सदुपयोग करना ही परम आनन्दके, परम शान्तिके, सच्चे सुखके उस अखण्ड और एकच्छत्र साम्राज्यको जीत लेनेका सनातन रहस्य है।

पर इसके विपरीत यदि हम अपने ही पास वस्तुओंका संग्रह (यहाँतक कि अनीति-अन्यायसे भी) करते जाते हैं तो हम अपना ही दम घोंटनेवाली सीमा बाँधते जाते हैं, लोहेके सीखचोंमें अपनेको ही जकड़ते हुए स्वयं अपने ही हाथों अपनी हत्या कर डालते हैं। सुख-शान्ति ढूँढ़ने जाकर दुःख तथा अशान्तिके अतल गर्तमें गिर पड़ते हैं। यही है महामोहका निश्चित परिणाम! अवश्य मिलनेवाला अन्तिम फल!

आखिर हम ऐसा करते ही क्यों हैं? वह कौन-सी भावना है जो इस अनर्थके मूलमें काम करती है? अपने पास आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको संग्रह करनेका एक कारण तो यह है कि हम समझते हैं कि हमारे आसपासके अभावग्रस्त निर्धनलोग हमें धनी समझेंगे, बाबूजी कहेंगे, हमारा सत्कार करेंगे, समाजमें हम प्रतिष्ठित समझे जायँगे और हमारा झूठ भी सत्यके भाव बिकने लगेगा! पर जरा हम विचार करके देखें तो हम इस प्रकार सर्वनाशके मूल अहङ्कारको ही बढ़ावा दे रहे हैं। सबके साथ घुल-मिल जानेके, सबके साथ एकीभूत हो जानेके सर्वव्यापक, अनन्त और असीम हो जानेके विलक्षण सुखको पानेके बजाय सब ओरसे अपनेको समेटकर सबसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर क्रमशः अपनेको सङ्कुचित करते हुए हम दुःखोंका ही आवाहन करते हैं! अहंता-ममताका यह भूत हमारे ऊपर सवार होकर हमें प्रकाशसे अन्धकारकी ओर, जीवनसे मृत्युकी ओर, आनन्दसे दुःखकी ओर तथा मुक्तिसे बन्धनकी ओर ले जाता है! जो सबके साथ एकत्व स्थापित करता है; सर्वात्मभावसे प्रेरित होकर सबका अपना बनना चाहता है वह अपना आधार विस्तृत करता जाता है। विस्तृत आधारपर ठहरी हुई कोई चीज गिरती नहीं। पर जो अपनेको औरोंसे समेटते हुए, सिकोड़ते हुए, अलग करते हुए, अपने आधारको घटाते-घटाते एक बिन्दु (Point) मात्र कर डालता है वह आवश्यक, अनावश्यक पदार्थोंके संग्रहसे पोषण पाये हुए अपने अहंरूपी सिरके भारी हो जानेके कारण गिर पड़ता है। इस प्रकार बोझल चोटी (Top.heavy) हो जानेसे यही परिणाम हो सकता है।

हमें इस बातका या तो ज्ञान ही नहीं होता या हम इसे जाननेके कष्टसे बचना चाहते हैं कि जिन अभाव-ग्रस्त निर्धन लोगोंमें (जिनको निर्धन बनानेका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कारण हम भी हैं) बड़े कहलाकर हम पूजा-प्रतिष्ठा चाहते हैं, उनमें बहुत-से तो ऊपरसे भले ही हमारा सम्मान करते हुए प्रतीत हों पर उनके अंदर हमारे प्रति विद्वेषकी अग्नि सुलग रही होती है ! हम उनकी सहानुभूति खो बैठते हैं ! यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है ! विना एक दूसरेकी सहानुभूतिके कोई किसी बातमें कितना ही बड़ा क्यों न हो, दीर्घकालतक सुखी नहीं रह सकता। हम उनकी सहानुभूति ही नहीं खो बैठते, बल्कि अवसर मिलते ही उनमेंसे बहुत-से तो हमें भूमिसात् कर देनेके लिये, मिटा देनेके लिये तैयार हो जाते हैं ! इस प्रकार हम धनके साथ-साथ अपने शत्रु भी पैदा करते जाते हैं जिनके कारण हमें रात-दिन भयभीत रहना पड़ता है ! धनिकोंके तो अपने ही घरके लोग अपने नहीं होते। उनके साथ उनके घरके लोगोंका जो प्रेम और सहानुभूति होती है, उसकी बुनियाद गहरी नहीं होती, ऐसा प्रायः देखनेमें आता है। ऐसे अभागे लोग क्या सच्चे सुखकी गोदमें बैठ सकते हैं ?

दूसरा कारण अपने पास औरोंकी अपेक्षा अधिक संग्रह करनेका यह हुआ करता है कि हम इन्द्रिय-भोगोंको ही एकमात्र सुखका हेतु समझकर उन्हें बटोरने लगते हैं। कुछ लोगोंपर तो बटोरनेका यह भूत इस हदतक सवार हो जाता है कि उन्हें नीति-अनीतिसे बटोरे हुए इन भोगोंके एक अल्प अंशको भी भोगनेकी फुरसत नहीं ! उन्हें खाने-सोनेतककी भी फुरसत नहीं होती ! अपने प्रेमीजनोंसे (यदि कोई सच्चा प्रेमी हुआ तो) मिलनेका अवकाश नहीं मिलता। सत्सङ्ग-स्वाध्यायकी तो बात ही दूर रही। वे तो तृष्णाकी अग्निमें जलते हुए बटोरते ही जाते हैं ! तृष्णाकी इस अग्निने मनकी शान्ति (Peace of mind) को तो जला ही डाला, इसके साथ-साथ भोग भोगनेवाले इस शरीरपर भी इसका घातक प्रभाव पड़ता है।

और यदि किसीने भोगको ही अपने जीवनका लक्ष्य बनाया तो उसकी भी एक हद होती है। हदसे अधिक करनेपर भोग भोगनेकी क्षमता ही नष्ट हो जाती है। इन्द्रियाँ निर्बल और निस्तेज हो जाती हैं; मन बेकाबू हो जाता है; बुद्धिका नाश हो जाता है; शरीर नाना प्रकारके भयङ्कर रोगोंका शिकार बन जाता है। सुखके लिये तरसते-तरसते सुखकी वासना लेकर समयसे पहले ही कालका ग्रास बन जाना पड़ता है। और यदि ऐसा होनेसे पहले ही दैव-विधानसे हमारा धन, हमारे सुखके साधन हमसे छिन जाते हैं तो अकस्मात् हमारे ऊपर वज्र-सा टूट पड़ता है ! इस प्रकार सब तरहसे सुखके बदले दुःख ही पल्ले पड़ता है। जो सुख अपनेको पहले मिला था, वह भी हम खो बैठते हैं ! पर इसके स्थानपर यदि हम अपनी आवश्यकतासे अधिक पदार्थोंको औरोंकी आवश्यकताओंको पूरा करनेमें लगा दें तो हमारा हृदय उदार होकर हमें अपने अंदरके अक्षय सुखके खजानेका पता लग जाय; उनके प्रेम और सहानुभूतिको पाकर हम सुखसे रहने लगें और भोगोंमें अति न कर सादा जीवन बितानेसे हमारा स्वास्थ्य भी बना रहे। जिस सुखको हम भोगोंकी प्रचुरतासे प्राप्त करनेकी आशा करते हैं वह तो हमें औरोंके साथ अपने खोये हुए सम्बन्धको पुनः स्थापित करनेसे अनायास ही मिलने लगता है। इस सत्यको हमें देर-सबेर जानना ही होगा। यदि हम ऐसा न करके औरोंसे अपना सम्बन्ध-विच्छेद करते हुए विपरीत दिशामें जाने लगें तो सारे विश्वको एक सूत्रमें ग्रथित करनेवाले विश्वनियन्ता भगवान्की विश्वशक्तिका कठोर आघात हमारी घोर मोह-निद्राको भंग कर देगा और हमें नतमस्तक होकर उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा ! मेरे पास-पड़ोसके लोग कठिन परिश्रम करनेपर भी जीवनकी मौलिक आवश्यकताओंको

पूरा न कर सकें और मैं आवश्यक-अनावश्यक पदार्थोंके प्रचुर संग्रहमें ही अपना सुख समझूँ, यह विषम स्थिति भला कबतक रह सकती है ? परस्पर आदान-प्रदानसे ही जगत्‌का व्यवहार—जगचक्र चला करता है। मैं केवल लेने-ही-लेनेका व्यापार करूँ और किसी-न-किसी रूपमें भी देना अपना कर्तव्य न समझूँ, अपने ही परम हितका साधन न समझूँ तो मेरे सुख-स्वप्नको कठोरतापूर्वक भी नष्ट करके मुझे ठीक रास्तेपर लानेवाली विश्वकी ओटमें काम कर रही विश्वात्माकी वह प्रचण्ड शक्ति किसी भी प्रकार भुलायी नहीं जा सकती ! वह अपना काम करके ही रहेगी।

येन सर्वमिदं ततम्

(लेखक—श्रीचारुचन्द्र चटर्जी)

श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकले हुए जितने महावाक्य हैं उनमें 'येन सर्वमिदं ततम्' अन्यतम है। ये शब्द सहज और सरल हैं। इनका अर्थ भी सरल है—येन=जिसके द्वारा; इदम्=यह; सर्वम्=सम्पूर्ण (जगत्); ततम्=व्याप्त है। अतः इस वाक्यका अर्थ हुआ—'जिसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है।'

अब इस सरल अर्थपर यह प्रश्न होता है कि किसके द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है ? सम्पूर्ण जगत्‌को जो व्याप्त किये हुए है वह कौन है ? कैसे उसका अनुसन्धान किया जाय ? उसको कौन जानता है ? इन प्रश्नोंका उत्तर सरल नहीं दिखायी देता। यदि यह भलीभाँति ज्ञान हो जाय कि वह कौन है, तो जिज्ञासु मनुष्यकी अधिकांश शंकाएँ सहज ही दूर हो जायँ। उसका पता लगानेके लिये हमें श्रीगीताका ही आश्रय लेना है और प्रति अध्यायमें इन शब्दोंका अन्वेषण कर उनपर ध्यानपूर्वक विचार करना है।

इनका प्रथम प्रयोग हुआ है द्वितीय अध्यायमें। इस अध्यायके १७ वें श्लोकमें श्रीभगवान् भक्त अर्जुनसे कहते हैं—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति॥

'उसको तू 'अविनाशी' जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। इस अविनाशीका कोई भी नाश नहीं कर सकता।'

तो यहाँ यह ज्ञात हुआ कि सम्पूर्ण जगत्‌को जो परिव्याप्त किये हुए है वह नाशरहित है; भूत, भविष्य, वर्तमान—कोई काल ऐसा नहीं है जब कि वह न हो, अर्थात् वह कालातीत है; परंतु श्रीमन् मधुसूदन सरस्वती लिखते हैं—

विनाशो देशतः कालतो वस्तुतेन वा परिच्छेदः, सोऽस्य अस्तीति विनाशि परिच्छिन्नं, तद्विलक्षणम् 'अविनाशि', सर्वप्रकारपरिच्छेदशून्यम्।

भावार्थ यह कि 'जो देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है, सीमित नहीं है, वह 'अविनाशी' है, केवल नाशरहित कहना पर्याप्त नहीं।'

यहाँसे आगे बढ़कर नवम अध्यायके २२ वें श्लोकमें मिलता है—

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥

श्रीभगवान् कहते हैं,—'हे अर्जुन ! जिसके अन्तर्गत सब भूत हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् परिव्याप्त है, वह परम पुरुष अनन्य भक्तिसे प्राप्य है।' इस श्लोकसे जिसको हम ढूँढ़ रहे हैं उसका इतना परिचय मिला कि वह (१) परम पुरुष है; (२) सब भूत उसके अन्तर्गत हैं; (३) उसीसे जगत् व्याप्त है और (४) वह भक्तिसे प्राप्य है। तात्पर्य यह कि जिससे ब्रह्माण्ड परिव्याप्त है वही परमात्मा है और वही सब भूतोंका कारण है, क्योंकि सब उसीमें अवस्थित हैं; कार्यमात्र कारणके ही अन्तर्गत होता है। और अनन्य भक्तिसे—जिस भक्तिका दूसरा कोई विषय नहीं है—वह परम पुरुष प्राप्य है।

इसी यात्रामें अध्याय ९ श्लोक ४ में श्रीभगवान्‌की वाणी यों सुननेमें आती है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥

'अपने अतीन्द्रिय स्वरूपद्वारा मैं समग्र चराचरको

व्याप्त किये हुए हूँ; स्थावर-जङ्गम समस्त भूत मुझमें स्थित हैं, परंतु मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।'

यहाँ दो बातोंपर ध्यान देना है। प्रथम यह कि यहाँ भगवान्‌ने 'प्रथम पुरुष' छोड़कर 'उत्तम पुरुष'का व्यवहार किया है और कहते हैं कि मेरेद्वारा सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। यहाँ 'जिसके द्वारा' ऐसा नहीं कहते हैं। सुतरां यह निश्चय है कि श्रीकृष्ण वासुदेव ही सब जगत्‌को परिपूर्ण किये हुए हैं। दूसरी बात यह जो श्रीमधुसूदन सरस्वती अपनी टीकामें लिखते हैं—

त्वया वासुदेवेन परिच्छिन्नेन सर्वं जगत् कथं व्याप्तं प्रत्यक्षविरोधादिति नेत्याह—अव्यक्त सर्वकरणागोचरीभूता स्वप्रकाशाद्वयचैतन्यसदानन्दरूपा मूर्तिर्यस्य तेन मया व्याप्तमिदं सर्वं न त्वनेन देहेनेत्यर्थः।

अर्थात् 'आप वासुदेव परिच्छिन्न जीव हैं; आपसे सब जगत् कैसे परिव्याप्त हो सकता है ? यह तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है।' इस प्रश्नके उत्तर जैसे भगवान् कहते हैं— 'अव्यक्तमूर्तिना'—अर्थात् सब इन्द्रियोंके अगोचर, स्वयंप्रकाश, अद्वितीय, चैतन्य और सदानन्दस्वरूप जो मेरी मूर्ति है, उस मूर्तिसे मैंने जगत् व्याप्त कर रक्खा है, मेरी इस व्यक्त मूर्तिसे नहीं।' अतः लेखके प्रारम्भमें जो प्रश्न किया गया था—'जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है वह कौन है ?' उसके उत्तरमें स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं—'मैं अविनाशी, परम पुरुष अपनी अव्यक्त मूर्तिसे समग्र ब्रह्माण्डको व्याप्त करके विद्यमान हूँ और समग्र भूत मुझमें स्थित हैं।'

इसी तथ्यका भगवान्‌ने अध्याय १३ श्लोक १३ में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। ज्ञेय पदार्थका विषय अर्जुनको समझाते हुए वे कहते हैं—

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

'वह (आत्मा) सब ओर हाथ-पैरवाला, सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला तथा सब ओर कानवाला है तथा समस्त संसारको व्याप्त कर स्थित है।' एक महात्मा इस श्लोकपर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं—

मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृति जितने प्रकार प्राणी हैं, उनके हस्त, पद, नयन, मस्तक, मुख और श्रवणादि इन्द्रियगण जो सचेतन भावसे अपनी-अपनी क्रियाएँ करते हैं, इसका कारण वे ही हैं, वे ही यह देह-इन्द्रियादि एवं समस्त जगत्‌में अनुस्यूत भावसे अवस्थित हैं। लोहा जैसे अग्निका संयोग पाकर प्रज्वलित भावसे प्रकाशित होता है, तुमलोगोंके मन, बुद्धि और इन्द्रियगण भी उसी प्रकार उनके साथ लिपटे रहनेके कारण भीतर-ही-भीतर प्रकाश पाते हैं—चेतन होते हैं—और चेतन होकर नियमित भावसे अपना-अपना कार्य निष्पन्न करते हैं। कहना यह है कि जगदीश्वर न केवल सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त किये हुए हैं, परंतु अन्तर्यामीरूपसे जीव और जडके अन्तर रहकर सबको नियन्त्रित भी करते हैं।

(२)

अब हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके शरणागत शिष्य अर्जुनके वाक्योंमें हमको जो प्रकाश प्राप्त होता है उसपर विचार करना है। एकादश अध्यायके ३६ से ४० श्लोकोंमें अर्जुनने भगवान्‌की महिमामें एक अति उच्चस्तरके स्तोत्रका पाठ किया। इसीको 'विष्णुपञ्जर मन्त्र' भी कहते हैं। उसमें हमको सबसे पहले ये शब्द मिलते हैं—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप॥

अर्जुन कहते हैं—हे अनन्तरूप! आप आदिदेव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत्‌के परम आधार हैं, आप ज्ञाता और ज्ञेय हैं, आप परमधाम हैं और यह जगत् आपसे व्याप्त है।

४० वें श्लोकमें अर्जुन पुनः कहते हैं—

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः॥

'हे सर्वात्मन्! मैं आपको सम्मुखसे, पश्चात् भागसे और सब ओरसे नमस्कार करता हूँ; हे अनन्त पराक्रमशाली! आप यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त किये हुए हैं, इससे आप सर्वस्वरूप हैं।'

यहाँ शब्द कुछ भिन्न हैं, परंतु मर्म वही है—जगत् आपसे व्याप्त है। उसके साथ अब यह भाव युक्त हुआ है कि वे ही सर्वस्वरूप हैं, उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस वाक्यको कठोपनिषद्‌में वर्णित तत्त्वका दिग्दर्शन कहें तो अप्रासंगिक न होगा—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

(कठ० २।२।९-१०)

अर्थात् 'जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट एक ही अग्नि और एक ही वायु नाना रूपोंमें उनके समान रूपवाला ही हो रहा है, वैसे ही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परब्रह्म एक होते हुए भी नाना रूपोंमें उन्हींके-जैसे रूपवाला हो रहा है और उनके बाहर भी वही स्थित है।'

(३)

हमारे प्रश्नोंके उत्तरमें एक बार और श्रद्धा-भक्तिसहित भगवान् श्रीकृष्णके एक गहन महावाक्यको सुनकर इस लेखका उपसंहार किया जायगा। अध्याय १८, श्लोक ४६ में भगवान् कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

'जिससे सब भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह सर्व जगत् व्याप्त है, उसको अपने स्वाभाविक कर्मके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको प्राप्त होता है।'

अबतक तो जगत्-परिव्याप्त करनेवालेका पता लगाया जाता था, अब उसके साथ यह समस्या उपस्थित है कि जगत्की उत्पत्ति करनेवाला कौन है? दोनों क्रियाओंका एक ही कर्ता है या भिन्न-भिन्न? भगवान्ने जब एकवचन प्रयोग करके कहा कि 'उसको' पूजकर, तो यह सिद्धान्त निश्चय है कि दोनों कार्योंका कर्ता एक ही है। एक ओर वे अपने कार्योंके कर्ता हैं—सृष्टिकी रचना करते हैं और उसमें अनुप्रविष्ट होकर अधिष्ठान करते हैं; और दूसरी ओर वे ही हमारे कार्योंके फलदाता हैं। यदि हम अपने वर्णाश्रम-धर्मके अनुयायी कर्मोंके द्वारा उनकी उपासना करें तो हमारे कर्मोंका फल वे ही प्रदान करेंगे। इन बातोंके विश्लेषणसे यह ज्ञात होता है कि यह श्लोक श्रीगीतारत्न-भण्डारकी कुंजी है। ध्यानपूर्वक इसकी पुनः-पुनः आवृत्ति करनेसे इसके गम्भीरतम भावोंके चिन्तन और मननसे और इसके मार्मिक अर्थोंके ग्रहणसे, गीताशास्त्रका मूल उद्देश्य उद्घाटित हो सकता है। अतएव इस श्लोकके पदोंका पृथक्-पृथक् अध्ययन करना चाहिये जिससे सारा गूढ़ रहस्य स्पष्ट हो जाय।

यहाँपर श्रीमधुसूदन सरस्वतीकी विचारधारापर अवश्य ध्यान देना चाहिये। उन्होंने लिखा है—

यतो मायोपाधिकचैतन्यानन्दघनात् सर्वज्ञात् सर्वशक्तेरीश्वरादुपादानान्निमित्ताच्च सर्वान्तर्यामिणः प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्मायामयीस्वप्नरथादीनामिव भूतानां भवनधर्मकानामाकाशादीनां येन चैकेन सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वमिदं दृश्यजातं त्रिष्वपि कालेषु ततं व्याप्तं स्वात्मन्येवान्तर्भावितं कल्पितस्याधिष्ठानानतिरेकात्। तमन्तर्यामिणं भगवन्तं स्वकर्मणा प्रतिवर्णाश्रमं विहितेनाभ्यर्च्य तोषयित्वा तत्प्रसादादैकात्म्यज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिमन्तःकरणशुद्धिं विन्दति मानवः देवादिस्तूपासनामात्रेणेति भावः।

अर्थात्—यतः=जिससे अर्थात् मायोपाधिक चैतन्यानन्दस्वरूप सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् जगत्का उपादान और निमित्त कारणस्वरूप जिस अन्तर्यामीसे; भूतानाम्=भवन-धर्मक अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील आकाशादिकी; प्रवृत्तिः=स्वप्नकालमें रथादिकी तरह मायामयी उत्पत्ति होती है; येन=सत्स्वरूप और स्फुरणस्वरूप जिसके द्वारा; सर्वम् इदम्=यह सम्पूर्ण दृश्यपदार्थसमूह; ततम्=भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालोंमें परिव्याप्त हैं अर्थात् जिसके स्वरूपमें ही यह सब अन्तःस्थित है, जिसके अतिरिक्त और किसी वस्तुकी सत्ता नहीं है, क्योंकि कल्पित पदार्थ भी अधिष्ठानसे अतिरिक्त नहीं है। 'यतः' और 'येन' कहनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जगत् कारणका उपादानभाव और निमित्तभाव दोनों व्यक्त हुए हैं, वैसे ही उसका एकत्व भाव भी प्रकट हुआ है। तम्=उस अन्तर्यामी भगवान्को; स्वकर्मणा=प्रत्येक वर्णाश्रमके लिये जो स्वतन्त्र भावसे कर्म नियत हैं उनके द्वारा; अभ्यर्च्य=पूजकर, उनके प्रसादसे; सिद्धिम्=एकात्मज्ञाननिष्ठा-की योग्यता जो सिद्धि है जिसको अन्तःकरणकी शुद्धि कहते हैं उसको; विन्दति=लाभ करता है; मानवः=मनुष्य; मनुष्य ही इस तरह (स्व स्व अधिकारानुरूप कर्मके द्वारा ईश्वरकी पूजाके प्रसादसे चित्तशुद्धि प्राप्तकर) उसको लाभ करता है, परन्तु देवता प्रभृति केवल उपासनाके द्वारा ही उसे प्राप्त करते हैं; 'मानवः' प्रयोग करनेका यही अभिप्राय है।

सारांश यह है कि मायाधीश अपनी मायासे जगत्-प्रपञ्च रचकर उसमें अनुप्रविष्टपूर्वक विराजते हैं। वे ही जगत्स्रष्टा परमेश्वर परमात्मा हैं; वे ही हमारे उपास्य देवता हैं। उनकी उपासनासे हमें अन्तःकरणकी शुद्धिरूप सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा ही उनकी अर्चना शास्त्रविहित विधि है। अवश्य ही ये कर्म निष्काम हैं जो कि श्रीगीताका प्रतिपाद्य विषय है।

इस श्लोकमें जिस सिद्धिकी आशा भगवान् दे रहे हैं, वह 'अपरा' सिद्धि है। इसकी प्राप्तिका फल ४९वें श्लोकमें वर्णित है—

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति॥

व्याख्या—जो कर्मफलादिमें वा पुत्र-कलत्रमें आसक्त न हो, जिसने विषयसे प्रत्याहार किये हुए अन्तःकरणको वशमें कर लिया हो, जो देह, जीवन वा भोग्य पदार्थोंमें कामना-वासना न रखता हो, जिसका काम्यकर्म पूर्णतया त्याग हो गया हो (इसीको भगवान्ने अध्याय १८ के आरम्भमें 'संन्यास' कहा है), वह विचारपूर्वक सम्पादन किये हुए ब्रह्म विषयका ज्ञानरूप नैष्कर्म्य सिद्धिको प्राप्त करता है।

यह 'परा' सिद्धि है और यहाँ इसकी केवल प्राथमिक अवस्थाका निर्देश है। इसके उपरान्त जिस तपस्यासे नैष्कर्म्य-लब्ध पुरुष परम पद प्राप्त होता है, उसका भगवान्ने क्रमसे वर्णन किया है। यथा—

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च।
शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥
(१८। ५०—५५)

इन श्लोकोंका यथार्थ अर्थ तो वही जानते हैं जिन्होंने इनपर यत्नशील होकर आचरण किया हो। गीता योगशास्त्र है। ये श्लोक उस शास्त्रके योगसूत्र हैं। महर्षि पतञ्जलिने कहा है कि योगयुक्त होनेके लिये अभ्यासकी आवश्यकता है—

'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।'
(योग० १। १४)

'वह अभ्यास दीर्घकाल, निरन्तर श्रद्धासहित करते-करते क्रमशः दृढभूमिमें स्थित होता है।' उसी प्रकार जो साधक इन श्लोकोंपर निरन्तर श्रद्धासहित आचरण करता है, उसको पहले परा भक्ति प्राप्त होती है, परा भक्तिसे तत्क्षण तत्त्वज्ञान प्रस्फुटित होता है और तत्त्वज्ञान होते ही वह उस अनिर्वचनीय ब्रह्मतत्त्वमें प्रविष्ट हो जाता है—

येन सर्वमिदं ततम्।

(४)

अन्तमें योगिराज श्रीअरविन्दने इस श्लोक (१८।४६) की व्याख्या करते हुए जो गम्भीर निबन्ध लिखा है, वह प्रणिधान करने योग्य है। उसमें सम्पूर्ण गीताशास्त्रमें प्रतिपादित साध्य-साधनपर एक विहङ्गम दृष्टिकी रेखा है—

The Gita's philosophy of life and works is that all proceeds from the Divine Existence, the transcendent and universal spirit. All is a veiled manifestation of the Godhead, Vāsudeva, *yataḥ pravṛttirbhūtānām yen sarvamidam tatam*, and to unveil the Immortal within and in the world, to dwell in unity with the soul of the universe, to rise in consciousness, knowledge, will, love, spiritual delight to oneness with the supreme Godhead, to live in the highest spiritual nature with the individual and natural being delivered from shortcomings and ignorance and made a conscious instrument for the works of the divine Śakti is the perfection of which humanity is capable and the condition of immortality and freedom. But how is this possible when in fact we are enveloped in natural ignorance, the soul shut up in the prison of ego,......mastered by the mechanism of Nature, cut off from our hold on the reality of our own secret spiritual force? The answer is that all this natural action contains the principle of its own evolving freedom and perfection. A Godhead is seated in the heart of every man and is the Lord of this mysterious action of Nature. And although this spirit of the Universe, this One who is all, seems to be turning us on the wheels of the world

as if mounted on a machine by the force of Māyā, shaping us in our ignorance by some skilful mechanical principle. Yet is this spirit our own greatest self and it is according to the real idea, the truth of ourselves that, birth after birth, as our opened eyes will discover, we are progressively shaped by this spirit within us in its all-wise omnipotence. This machinery of ego, this tangled complexity of the three Guṇas,—mind, body, life—emotion, desire, thought—interaction of pain and pleasure, sin and virtue—myself and others—is only the outward imperfect form taken by a higher spiritual Force in me which pursues the progressive self-expression of the reality and greatness I am secretly in spirit and shall overtly become in nature.

जीवन और कर्मके विषयमें गीताका सिद्धान्त यह है कि सबका प्रादुर्भाव एक सर्वोपरि एवं सार्वभौम तत्त्वात्मक भागवत-सत्तासे है । सब कुछ भगवान् वासुदेवकी ही सावरण अभिव्यञ्जना है (यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्) । अन्तःस्थ एवं विश्वस्थ इस अमरतत्त्वको प्रकट करना, विश्वात्माके साथ एकात्मता स्थापित करना, भगवान्के साथ चेतना, ज्ञान, इच्छा, प्रेम और आध्यात्मिक सुखमें एकता प्राप्त करना तथा भागवती शक्तिके कार्य-सम्पादनार्थ साधनभूत एवं त्रुटियों और अज्ञानसे मुक्त सहजस्वरूप जीवके साथ उच्चतम आध्यात्मिक स्वरूपमें अवस्थित होना ही वह पूर्णत्व है जो मानवताके लिये अभिगम्य तथा अमरत्व और मुक्तिकी आधारशिला है; परंतु वस्तुतः स्वाभाविक अज्ञानमें हमारे आवृत होते हुए, अहंकारके पिंजरेमें आत्माके बंद होते हुए, प्रकृतिसे नियन्त्रित होकर अपनी ही गुप्त आध्यात्मिक शक्तिकी सत्यतापर विश्वासके स्वामित्वसे वञ्चित होते हुए यह स्थिति सम्भव कैसे है ? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकारकी प्रत्येक स्वाभाविक क्रियामें उसकी अपनी मुक्ति एवं पूर्णत्वके विकासका बीज निहित है । प्रत्येक व्यक्तिके हृदयमें भगवान् आसीन हैं; वे ही प्रकृतिकी इस रहस्यमयी क्रियाके विभु हैं । और यद्यपि यह विश्वात्मा, यह सर्वरूप मायाके द्वारा हमें यन्त्रारूढ़की भाँति संसारचक्रपर घुमाता हुआ-सा प्रतीत होता है, तथापि यही परमात्मतत्त्व हमारा उच्चतम स्वरूप है, और वास्तविक तथ्यके अनुसार हमारे विषयमें—जैसा कि हम जन्म-जन्मान्तरमें देखते जायँगे—सच्चा ज्ञान यही है कि अपने अन्तःस्थ इस सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् आत्माके द्वारा हमारी सदा उन्नति होती जा रही है । यह अहंकारका जाल, यह मन, शरीर, जीवन, भाव, इच्छा, विचार—सुखदुःखात्मक संघर्ष, पाप, पुण्य—मैं और पराये आदि त्रिगुणोंके जटिल प्रपञ्च, सभी मुझमें स्थित एक उच्चतर आध्यात्मिक शक्तिके बाह्य और अपूर्ण रूपमात्र हैं । यही शक्ति मेरी उस वास्तविकता तथा महत्ताका निरन्तर अधिकाधिक विकास किया करती है जो प्रच्छन्नरूपसे मेरी आत्मामें अधिगत है और प्रकटरूपसे मेरे प्राकृतिक स्वरूपमें मूर्त्त होगी ।

प्रार्थना

(रचयिता—महाकवि पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल, 'सिरस', साहित्यरत्न)

विद्या-बुद्धि सों सबल, ते अबल धन सों हैं, धन, धी के बली वश-माया-बल पाऊँ मैं ।
राजा-राग-रंग-रँगे, रंकता की शंक करैं, राज्य-अंगभंग-भय-चक्रवर्ति गाऊँ मैं ॥
सुख सों, अधिक दुख दबे दीन दुखित वे, योगी सिद्धि-हेतु भ्रमैं, भ्रमी के न धाऊँ मैं ।
'सिरस' सो जाचक अजाचक कियो है जिन, राम सों बड़ो है कौन ताके पास जाऊँ मैं ॥
वासना-विषय-बीची उठतीं उतंग-बहु, परिकै प्रवाह इतै उत धाइयतु है ।
पातो नाहिं पार, परिवार-पोतहू कौं पाय, हाय, दुख दूनो सगो संग लाइयतु है ॥
करम कौं कोप है करोरन कौं जन्म जुरो, परतो न कम कवौं, बढ़ो जाइयतु है ।
प्रभु-गुन-गान सों 'सिरस' हू सरस भयो, चंदन-सुगन्ध, निंब मैं हूँ पाइयतु है ॥

सत्सङ्ग-माला

(लेखक—श्रीमगनलाल हरिभाई व्यास)

[गताङ्कसे आगे]

(८८) शरीर (स्थूल) तो जड है, विकारी है, नाशवान् है और आत्मा चेतनस्वरूप, सदा निर्विकार, नित्य और अविनाशी है; फिर यह संसारका गड़बड़झाला किसको लेकर है ?—चित्तको लेकर । चींटीसे लेकर ब्रह्मातक सब शरीरोंके चित्त त्रिगुणमय होते हैं । उनमें किसीमें सत्त्वगुण अधिक, किसीमें रजोगुण अधिक और किसीमें तमोगुण अधिक होता है । पर ऐसा कोई चित्त नहीं जिसमें गुण न हो । इन तीन गुणोंवाले जीवोंके कल्याणके लिये तीन श्रेयके मार्ग शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं—कर्ममार्ग, उपासनामार्ग और ज्ञानमार्ग । जिस प्रकार चित्तमें तीन गुणोंमें एक मुख्य होता है और दो गौण होते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक साधकको अपने कल्याणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञानमेंसे एकको मुख्य और दूसरे दोनोंको गौणरूपसे निश्चय करना चाहिये । इन तीनों मार्गोंसे सांसारिक सुख या किसी प्रकारकी कामनाकी प्राप्ति चाहनेवाला मनुष्य संसारके चक्रसे छूट नहीं सकता । परंतु निष्कामभावसे केवल भगवत्-प्राप्तिके लिये इन तीनों मार्गोंका सेवन करनेवाला साधक प्रभुको प्राप्त करता है। क्रियाका स्वरूप वही रहता है परंतु जिस आशयसे क्रिया होती है उसी हिसाबसे फल मिलता है । जो चित्त कर्म, उपासना और ज्ञानका सेवन करके जगत्के सुखकी इच्छा करता है उसे उसकी प्राप्ति होती है और जो भगवान्की इच्छा करता है, मोक्षकी इच्छा करता है उसे वह मिलता है । जैसी इच्छा वैसा फल । तब यह प्रश्न होता है कि समान परिश्रमके होते हुए भी फलमें इतना अन्तर है तो सब लोग मोक्षकी या भगवान्की इच्छा क्यों नहीं करते ? इसका कारण यह है कि जीवको इन्द्रियजनित सुख प्रत्यक्ष है, अतएव वह उसकी सहज ही इच्छा करता है । भोग-सुख प्रत्यक्ष है, परंतु वह परिणाममें दुःखरूप है, यह बात जैसे-जैसे विचारद्वारा मनुष्यकी समझमें आती है वैसे-ही-वैसे उसके प्रति उसे अरुचि हो जाती है । जबतक इन्द्रियोंके भोगोंमें रुचि है और रस मिलता है तबतक मनकी इच्छाएँ दूर नहीं होतीं । भोगकी इच्छासे ही चित्त एक शरीर छोड़कर दूसरा धारण करता है, अनेकों कर्मोंको करता है और उनसे दुःख, क्लेश और चिन्ता आदि भोगता है । अपने व्यक्तिगत अनुभव, विचार और सत्सङ्गके बिना चित्त भोगकी इच्छाओंको नहीं छोड़ता । भगवान्की शरण लेनेसे, भगवान्की भक्ति करनेसे, संतजनोंके सहवाससे और विचारसे भोगनेकी इच्छा धीरे-धीरे शान्त होती है । इसलिये भाई शान्तिसे, धीरजसे लगे रहो । चित्तमेंसे इच्छामात्रका नाश हुए बिना जन्म-मरणके चक्करसे जीव नहीं छूट सकता ।

(८९) चित्त जिसकी लालसा करता है उसे पाता है । जगत्में दो हैं—एक भोग-पदार्थ और दूसरे भगवान् । चित्त भोगका चिन्तन करता है तो भोग मिलता है । भगवान्का चिन्तन करता है तो भगवान् मिलते हैं । चित्त भोगका या भगवान्का चिन्तन क्यों करता है ? इसका उत्तर यह है कि शाश्वत सुखके लिये, अखण्ड आनन्दके लिये । जो सुख या आनन्द अखण्ड नहीं है, बल्कि परिणाममें श्रम, क्लेश, भय, चिन्ता और दुःख प्रदान करता है उसको उसी प्रकार ठीक-ठीक जान लेनेपर चित्त उसकी इच्छा नहीं करता । जगत्के अनेकों संस्कार चित्तको भुलावेमें डालते हैं, उनसे कभी चित्तमें भोगकी इच्छा जाग्रत् होती है, और फिर भोगके प्रति इच्छाका अभाव होकर भगवान्की इच्छा जाग उठती है । इस प्रकार चित्तका गड़बड़-घोटाला चला ही करता है । चित्तका यह भ्रम चिरकालसे है, इसलिये यह सहज ही दूर नहीं होता ।

चित्त एक बार सोचता है कि भोगकी इच्छा नहीं करनी चाहिये, भोगका चिन्तन भी नहीं करना चाहिये, केवल भगवान्की ही चाह करनी चाहिये । इस प्रयत्नमें उसकी परीक्षाएँ होती हैं । उसके सामने अनेकों भोग आकर खड़े हो जाते हैं । उसीकी इन्द्रियाँ उनको भोगनेके लिये उसे ललचाती हैं । इस अवस्थामें यदि उसकी बुद्धि परिपक्व नहीं हुई होती है तो दीर्घकालसे हठपूर्वक भोगमेंसे रुचि हटाकर भगवान्में रुचि रखनेवाला मन भगवान्को छोड़कर भोगमें फँस जाता है । और एक बार भोगमें पड़ा हुआ मन सहज ही नहीं निकलता । तपस्वी विश्वामित्र तथा दूसरे अनेकों तपस्वी जिन्होंने भोगमात्रका त्याग कर दिया था, सहज ही भोगमें फँस गये । हठपूर्वक भोगसे हटाया हुआ मन भोगके लिये प्रबल आकर्षण होनेपर तुरंत ही उसमें फँस जाता है ।

अतएव भोगका त्याग करनेके लिये भगवान्‌की शरण लेनी चाहिये । भगवान्‌की प्राप्ति करनेके लिये और भोगकी इच्छाका त्याग करनेके लिये जो भगवान्‌की शरण लेते हैं उनकी रक्षा भगवान् स्वयं करते हैं । इसी कारण भगवान्‌का भक्त भोगका सहज ही त्याग करके आसानीसे भगवान्‌को पा लेता है । क्योंकि भक्तका चित्त भोगका त्याग करनेके लिये अपने बलका भरोसा नहीं करता । बल्कि उन भगवान्‌का बल ही उसका आधार होता है कि जिसका बल अपार है । और जो भगवान्‌की शरण न लेनेवाले हठयोगी, विचारशील तथा अन्यान्य साधक चित्तकी भोगेच्छाको छुड़ानेकी चेष्टा करते हैं, वे अपने ही अल्प बलका भरोसा करते हैं, और इसी कारण उनकी चेष्टा निष्फल हो जानेकी अधिक सम्भावना होती है । इसलिये मोक्षकी कामना करनेवालोंको चाहिये कि भगवान् जो सर्वत्र व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सबके आधार, दयालु और भक्तवत्सल हैं, उनकी शरण लेकर उनकी ही प्रार्थना करके, उन्हींकी दयाके द्वारा मुक्ति पानेके लिये प्रयत्न करे ।

(९०) शरीरमें चित्त है । चित्तके द्वारा ही जीव सुख-दुःखका अनुभव करता है, चित्त ही इच्छाएँ करता है । क्लेश, भय, चिन्ता, क्रोध, लोभ, द्वेष सबका करनेवाला चित्त ही है । इन सभी चित्तके भावोंका समावेश दोमें होता है—कामना और घबराहट । कामना और घबराहटसे चित्त अपनी जगहको छोड़कर इधर-उधर भटकता है । चित्तका आश्रय आत्मा है । आत्मा नित्य, अविकारी, अविनाशी, अनादि और आनन्दस्वरूप है । यदि चित्त शुद्ध आत्माके आश्रयमें रहे तो उसको शान्त, सुखस्वरूप और आनन्दस्वरूपका अनुभव हो । परंतु उसमें कामना और घबराहट जाग्रत् होती है, इससे वह आत्माके आश्रयको छोड़कर जगत्‌की ओर दौड़-धूप करता है, और इसीसे अपार दुःखका अनुभव करता है । जबतक आत्माके आश्रयमें रहता है तबतक अखण्ड सुख रहता है, और उसको त्याग करनेसे अपार दुःख होता है, इसलिये यह विचारना चाहिये कि ऐसा होते हुए भी कारण क्या है जो चित्त आत्माका आश्रय त्यागकर जगत्‌की ओर भटकता है । चित्तमें किसकी कामना जाग्रत् होती है ? किससे जाग्रत् होती है ? इस चित्तमें संस्कार भरे हैं और वे संस्कार सङ्गसे प्रविष्ट हुए हैं । चित्तको कामना तो सुखकी ही है । परंतु वह सुख किससे किस प्रकार मिलेगा, इसका निर्णय उसमें दूसरोंको देखने, सुनने, जानने और अनुभव करनेसे प्रविष्ट हुए संस्कार करते हैं । स्त्रीसे सुख मिलेगा, धनसे सुख मिलेगा, विद्यासे सुख मिलेगा, भोगसे सुख मिलेगा, यशसे सुख मिलेगा, राज्यसे सुख मिलेगा, ऐश्वर्यसे सुख मिलेगा, स्वर्गसे सुख मिलेगा, लोक-परलोक या उनके आधिपत्यसे सुख मिलेगा, ऐसे अनेकों संस्कार चित्तमें सङ्गके द्वारा घुसे हुए हैं । वे संस्कार चित्तको आत्मासे विमुख करके उन-उन इच्छाओंके लिये प्रयत्न करनेकी प्रेरणा करते हैं । और इच्छा पूरी करनेके लिये आत्मासे दूर होकर उसने जैसे ही इच्छा पूरी की कि तुरंत चित्त आत्माके आश्रयमें आकर खड़ा हो जाता है, क्योंकि सुख तो आत्मामें ही है । इसी कारण आत्माके आश्रयमें आते ही उसे सुखका अनुभव होता है । इस प्रकार आत्माके आश्रयसे इच्छित वस्तु मिलनेसे उसे सुखका अनुभव हुआ । यह सुख मिला आत्मासे ही, पर इससे चित्तने जाना कि अमुक वस्तुसे मुझे सुख मिला है । यह बिल्कुल भूल है । जिस प्रकार राजाके द्वारा किसी कामके लिये भेजा हुआ नौकर काम पूरा करके राजाके पास आकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार चित्त किसी वाञ्छितसे सुख प्राप्त करनेके लिये वाञ्छितको प्राप्त करके आत्माके पास हाजिर हो जाता है ।

आत्मासे दूर गया चित्त जबतक आत्मासे विमुख रहता है तबतक श्रम, क्लेश, दुःख, चिन्ता, भय तथा ऐसे अनेकों प्रकारके कहे जानेवाले दुःखोंका अनुभव करता है । जिस प्रकार कुत्ता सूखी हड्डीको चबाते समय अपने ही दाँतोंसे निकले हुए रक्तको हड्डीमेंसे निकला हुआ मानकर सुखी होता है, उसी प्रकार जगत्‌के भोग्य-पदार्थोंको प्राप्त कर शान्त होनेसे आत्मामें अनुभव होनेवाले सुखको चित्त ऐसा मान लेता है कि यह सुख भोगसे मिला है, अमुक भोगसे सुख मिलेगा । इस प्रकार पूर्वसे ही कल्पना करके जो उसके लिये यत्न करता है, उसीको उस भोगसे सुखका अनुभव होता है, दूसरेको नहीं । कामनासे चित्त आत्मासे विमुख हो जाता है । ज्ञानीका यह लक्षण है कि सुखके लिये उसका चित्त आत्माको छोड़कर दूसरे किसीका आश्रय नहीं लेता । सुखके लिये कोई प्रयत्न नहीं करता । जिसे अखण्ड आनन्द कहते हैं, वह तो आत्मामें ही है । अतएव उसके लिये वह किसी औरका आश्रय नहीं लेता । इसीलिये अखण्ड आनन्दकी इच्छा करनेवालेको चाहिये कि सुखके लिये कामनामात्रका त्याग कर दे । जो कामनाओंका कभी सेवन नहीं करता, वह नित्य आनन्दित रह सकता है । घबराहट भी चित्तको आत्मासे

विमुख कराती है। अथवा कह सकते हैं कि आत्मासे विमुख चित्त घबड़ाता है और दुखी होता है। अतएव कभी घबड़ाना नहीं चाहिये। परंतु घबड़ाहट किससे होती है? कामनाके भङ्ग होनेसे। चित्तने यह कामना कर रक्खी है कि जगत्के प्राणी और पदार्थोंसे सुख होगा। और इस कामनाकी पूर्तिमें जब विघ्न पड़ता है तब उसे घबड़ाहट होती है। अतएव उचित तो यह है कि मनकी समस्त कामनाओंका त्याग करे। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि 'तो क्या कुछ भी न करे? बिना कुछ किये कैसे बैठा रहा जा सकता है?' उत्तर यह है कि ऐसी बात नहीं है। अपने शरीरकी प्रकृतिके अनुसार सारे काम—अर्थात् जो कर्तव्य-कर्म हों वे सब करने चाहिये। परंतु सुखकी आशासे नहीं। यह तो निश्चय कर ही लेना चाहिये कि सुख जगत्के किसी भी पदार्थमें नहीं है। वह तो केवल आत्मामें ही है। वह आत्मा मुझसे अभिन्न है और उसका अनुभव शान्त चित्तसे होता है।

तब चित्तको कामना छोड़कर और बिना घबड़ाहटके सुखके लिये नहीं, बल्कि कर्तव्यके लिये जो करना हो, उसे करना चाहिये। शर्त एक ही है कि जो कुछ करो बिना घबड़ाये करो। जो कुछ करो बिना सुखकी कामनाके करो। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'मोक्षके लिये यत्न किया जाय या नहीं? भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न किया जाय या नहीं?' इसका उत्तर यह है कि मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये यत्न करना तो मानव-जीवनका प्रधान कर्तव्य ही है; परंतु यह समझना चाहिये कि सबका आत्मा ही तो भगवान् है। और वह नित्य प्राप्त है। अपना सच्चा स्वरूप है। प्रयत्न इतना ही करना है कि मन शान्त रहे। चित्त समाहित रहे। क्रिया चाहे जो करे परंतु शान्त चित्तसे करे, इसका नाम योग है। इस योगके अभ्यासीका लक्ष्य सदा चित्तकी ओर रहता है। जिसका चित्त सदा शान्त है वह सदा सुखी है। कोई पूछ सकता है कि 'वह क्या भोग भोगता है—खाता-पीता है?' हाँ, वह सब कुछ करता है पर शान्त चित्तसे। अधीर होकर नहीं, लोलुपता या आसक्तिसे नहीं। सुख प्राप्त करनेकी बुद्धिसे नहीं। भोगमें सुख नहीं है। पर सुखका अनुभव तो आत्मामें शान्त समाहित चित्तसे होता है। ऐसा पक्का निश्चय होना चाहिये। कैसा भी प्रसङ्ग आवे और कुछ भी किया जाय, शर्त एक ही है कि शान्त चित्तसे किया जाय। आत्माकी छायामें रहकर किया जाय। विकारहीन चित्तके द्वारा किया जाय। मुँहपर विकार न आने पावे, इस प्रकार किया जाय। अनेक जन्मोंके द्वारा प्राप्त की जानेवाली वस्तु यही है।

(९१) चित्तको भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। यहाँ जो कुछ है सब परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। परमात्मा सर्वत्र अव्यक्तरूपमें व्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, अविनाशी, अनादि आदि गुणोंवाले हैं, उनको भजकर मैं उन्हें प्राप्त करूँगा। वे मेरे सर्वस्व हैं, मुझे वे तारेंगे—इस भावनासे चित्तको भगवद्भक्तिसे भगवान्में जोड़नेका नाम योग है। चित्त जिसके लिये उत्सुक होता है उसे पाता है। इस प्रकार चित्त भगवान्के लिये उत्सुक होकर भगवान्में लीन हो जाता है। और आत्मा तो परमात्मस्वरूप यानी भगवत्स्वरूप है ही, इसलिये कह सकते हैं कि चित्त आत्मामें लीन हो जाता है। इस मार्गके साधकका जब चित्त व्याकुल होता है या उसे कोई इच्छा होती है तब उसके लिये वह अपने उपास्य भगवान्की शरण लेता है। और परमात्मा तो कल्पतरु है। उसका आश्रय लेकर जो इच्छा करता है वह पाता है। अतएव इस प्रकार भक्तियोगवाला अस्त-व्यस्त होकर काम करता हुआ भी आखिर भगवान्को प्राप्त करता है। दूसरा सांख्योंका मार्ग है। भक्तियोगमें भाव और श्रद्धा प्रधान होती है, तो सांख्यमें विचार और वैराग्यकी प्रधानता है। जिसमें भाव और श्रद्धाकी अधिकता हो, उसे भक्तिमार्ग ग्रहण करना चाहिये। जिसका वैराग्य अभी कच्चा है और भोगसे रस मिलता हो उसके लिये भक्तिमार्ग उचित है। भक्तिमार्गका फल विचार और वैराग्य है। इसलिये सांख्यमार्गवालेको भी, जब वह बीचमें कहीं आ पड़े तो, भक्तिका सेवन करते रहना चाहिये। सांख्यमार्गवालेको जान पड़ता है कि यह शरीर मैं नहीं हूँ। यदि मैं शरीर होता तो इसके मुर्दा होनेपर भी इसे व्यक्तित्व मिलता। परंतु तब तो सभी कहते हैं कि मुर्देको जला डालो, इसमें रहनेवाला चला गया। अतएव यह स्थूल शरीर मैं नहीं हूँ। उसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धि भी मैं नहीं हूँ। भूले हुए मनको मैं उलाहना देता हूँ बुद्धिको मैं जानता हूँ, मैं जिसको जानता हूँ वह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार चित्तसे विचार करते हुए और शास्त्रके अभ्यास तथा सत्संगसे मैं कौन हूँ, इसका सूक्ष्म बुद्धिद्वारा विचार करनेपर ज्ञात होता है कि मैं आत्मा हूँ, नित्य हूँ, मुक्त हूँ, परमात्मस्वरूप, शुद्ध चेतन-स्वरूप हूँ।

भक्तियोगमें भक्त भगवान्के सिवा दूसरे किसीकी भी इच्छा न करे, इससे उसका चित्त निष्काम बनता है। और

जो विघ्न या कठिनाई आती है उसको दूर करनेके लिये भगवान्से प्रार्थना करता है, अथवा भगवान्ने इसमें भी मेरा हित समझा होगा, नहीं तो ये नहीं आते—ऐसा समझकर आनन्दसे उनका सहन करता है। इस प्रकार भक्त कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करके चित्तको भगवान्में जोड़ देता है। सांख्यवादी 'मैं आत्मा हूँ, असङ्ग हूँ, चित्त नहीं हूँ, मुझे भोग या मोक्षकी इच्छा नहीं, क्योंकि मैं नित्य मुक्त हूँ,—इस ज्ञानके बलसे चित्तमें होनेवाली इच्छाओंका शमन करता है। वह चित्तसे कहता है, 'तू मेरे लिये कोई इच्छा न कर। मैं भोक्ता नहीं हूँ। इसी तरह नित्य मुक्त होनेके कारण मुझे मोक्षकी भी इच्छा नहीं है।' इस प्रकार कामना-का त्याग करता है। और घबड़ाहटका त्याग इस प्रकार करता है कि 'देहका दण्ड देहको भोगना चाहिये। चित्तने जो कुछ पहले किया है उसको भोगे विना छुटकारा नहीं—हँस करके भोगे या रोकर भोगे, भोगना तो पड़ेगा ही। इसलिये शान्तिसे भोगना चाहिये।' इस प्रकार ज्ञानमार्ग-वाला कामना और घबड़ाहट दोनोंका त्याग करता है। भक्त और ज्ञानी दोनोंके मन्द और मध्यम प्रारब्ध नष्ट हो जाते हैं, और तीव्र प्रारब्ध रहता है। उसका भोग दोनोंको ही करना पड़ता है। इस प्रकार दोनोंके चित्त अनेकों प्रयत्न करते हुए अन्तमें परम पदमें लीन हो जाते हैं। चित्तका सदाके लिये परमात्मामें लीन होनेका नाम मुक्ति है, और चित्तका भोगके लिये एक शरीरमेंसे दूसरे शरीरमें भटकनेका नाम जन्म-मरणरूपी संसार है। अब तुम्हें जो रुचे वही मार्ग ग्रहण करो।

(९२) यह जो सारी अनन्त सृष्टि दिखलायी दे रही है, सो आत्मा-परमात्मारूपी कल्पवृक्षके नीचे रहकर चित्तके सङ्कल्पसे ही तो उत्पन्न हुई है न ? अनेकों जीवोंकी कल्पनासे यह सृष्टि खड़ी है। कोई जीव छोटे हैं, कोई बड़े हैं। कोई ब्रह्मा आदि देवता कहलाता है, तो कोई असुर कहलाता है। सब देहधारी हैं। सबके चित्त हैं। एकाग्र-चित्त जो सङ्कल्प करता है, वह प्रत्यक्ष होता है (आत्माकी छायामें रहनेके कारण)। तपके विना कोई सङ्कल्प नहीं फलता। तप करनेपर जो इच्छा होती है, उसकी पूर्ति होती है। इच्छाके हिसाबसे तप करना पड़ता है। इसीलिये जो इच्छा सहज होती है, वह शीघ्र फलित होती है, और कोई कालक्रमसे फलती है। तपका अर्थ है इन्द्रियोंका निग्रह। चित्तको, इन्द्रियोंको जगत्की ओरसे खींचकर परमात्माकी ओर लगानेका नाम 'तप' है। और चित्त जभी परमात्मामें लीन हुआ कि सङ्कल्प फलित हुआ। जिस प्रकार बारूद-खानेमें आगका स्पर्श होते ही वह भड़क उठता है, उसी प्रकार चित्तमें रहनेवाली इच्छा, चित्तके भगवान्में लगते ही फलित हो उठती है, परंतु भोगकी इच्छा चित्तको सहज ही भगवान्में लगने नहीं देती। इसलिये भोगकी इच्छाकी अपेक्षा मोक्षकी इच्छा शीघ्र फलती है। परन्तु चिरकालके संस्कारके कारण भोगकी इच्छाको निकाल डालना कठिन लगता है। तुम दो ही काम करो—चित्तमें कामना न जागे और चित्त घबड़ाये नहीं। इस अभ्यासको कमर कसकर करो। परंतु ऐसा करते समय चित्त कभी बेकार न बैठने पाये, इसलिये उसको या तो भगवान्का नाम जपना सौंपो—बेकार होते ही भगवान्का नाम रटे—या मैं आत्म-स्वरूप हूँ, इसका चिन्तन करे।

(९३) चित्तमें प्राण और वासना दोनों हैं। और वह त्रिगुणात्मक है। निष्काम भक्ति करनेपर ज्ञानके उदयके साथ वासना पतली होकर नष्ट हो जाती है। चित्तमें जो प्राण है, उसमें क्रियाशक्ति भरी है। यह क्रियाशक्ति बिना कर्म किये नहीं रह सकती। अतएव भक्तियोगका साधक हो या ज्ञानमार्गका अभ्यासी हो, दोनोंको ही हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहनेकी इच्छा नहीं करनी चाहिये। अपने प्राणकी क्रिया-शक्तिके अनुसार निष्काम भावसे कर्म करना चाहिये। यह प्राणमें रहनेवाली क्रिया-शक्ति भी त्रिगुणात्मिका होती है और सबकी एक-सी नहीं होती। अतएव जिसके प्राणमें जैसी क्रिया-शक्ति हो उसीके अनुसार ही उसे कर्म करना चाहिये। परंतु दूसरोंको देखकर उनके हिसाबसे कर्म नहीं करना चाहिये। गीतामें जो कहा है कि 'परधर्मो भयावहः' उसका यही अभिप्राय है। सूक्ष्म प्राणकी क्रिया-शक्तिके मुख्य गुणोंके आधार चार हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। उनके कर्म भी गीतामें कहे गये हैं, उसके अनुसार ही कर्म करना उत्तम है। ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भारतवर्षमें ही हों, ऐसी बात नहीं है। ये तो सारे जगत्में हैं। सृष्टि त्रिगुणात्मिका होनेके कारण, जिसमें सत्त्वगुण प्रधान हो उसे ब्राह्मण समझना चाहिये। और इसी प्रकार दूसरे गुणोंके अनुसार दूसरे वर्ण। कर्म किये बिना चित्त नहीं रह सकता। इसी प्रकार प्राणके भीतरकी क्रिया-शक्ति जो प्रकृति कहलाती है उसके विरुद्ध कार्य करनेसे चित्तमें अस्वस्थता रहती है। इस समय जीव प्रकृतिके अनुसार कर्म नहीं करते। इसीसे चित्त व्यग्र, अप्रसन्न और दुखी रहता है। पुस्तकें

पढ़कर और उनसे ज्ञान प्राप्तकर तुम निष्क्रिय मत बन जाना । भगवान्‌ने कहा है—'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' । अर्थात् बिना कामके रहनेमें तुम प्रीति मत करो । शरीरको आग्रहपूर्वक बिना क्रियाके रखनेपर मन सङ्कल्प-विकल्प करता है और उससे अनर्थ होता है । इसलिये तुम अपनी प्रकृतिके अनुसार कर्म करो और भगवान्‌का भजन करो ।

(९४) गीता किसी सम्प्रदायका ग्रन्थ नहीं है । जगत्‌के मनुष्यमात्रके ऊपर लागू होनेवाला ग्रन्थ है । इसमें कही हुई बातें स्वाभाविक हैं । और शरीरमात्रमें रहकर क्रिया करनेवाले चित्तका निदान ठीक-ठीक समझाकर गीताने यह बतलाया है कि चित्तको स्थायी शान्ति कैसे प्राप्त हो । गीताको सदा श्लोक और अर्थके साथ पढ़ना चाहिये, विचारना चाहिये, उसका नियमित पाठ करना चाहिये । पाठ करनेसे मुख्य श्लोक कण्ठस्थ हो जायँगे । और उन श्लोकोंका अर्थ जब चित्त फुरसतमें होगा, तब स्फुरित होगा । उसमें कहे हुए साधनके प्रति श्रद्धा होगी और उस साधनके लिये प्रयत्न करनेमें उत्साह होगा । गीतामें बतलाये हुए साधनोंके करनेसे ही सिद्धि मिल सकती है । दूसरे अध्यायमें बतलाये हुए स्थितप्रज्ञके लक्षण, तीसरे अध्यायमें बतलाया हुआ काम-क्रोधके नाश करनेका आग्रह, बारहवें अध्यायमें बतलाये हुए भक्तके लक्षण, तेरहवें अध्यायमें बतलाये हुए ज्ञानके लक्षण, चौदहवें अध्यायमें बतलाये हुए गुणातीतके लक्षण, सोलहवें अध्यायमें बतलाये हुए दैवी-सम्पदाके लक्षण तथा इनके अतिरिक्त सारी गीतामें यत्र-तत्र कहे गये साधनोंको यदि साधक करें तो जरूर शान्ति प्राप्त हो । छठे अध्यायमें बतलाया हुआ चित्त-निरोधका उपाय आग्रहपूर्वक करने योग्य है । साधन किये बिना कुछ नहीं मिलता ।

(९५) जगत्‌में जो दिखलायी दे रहे हैं, उन प्राणियों या पदार्थोंसे हमें आनन्द मिलनेवाला नहीं है । इसपर विचार करके सबसे पहले इसे निश्चय कर लेना आवश्यक है । जिस प्रकार लकड़ीके बनाये हुए पक्के आमका रंग और रूप सच्चे आमके-जैसे होता है, परंतु उसमें रस नहीं होता, उसी प्रकार जगत्‌के किसी भी प्राणी-पदार्थमें आनन्द नहीं है । जिस प्रकार रसकी इच्छावालेको बनावटी आमकी जरूरत नहीं होती, उसी प्रकार आनन्द—अखण्ड आनन्दकी इच्छावालेको इस जगत्‌के प्राणी-पदार्थोंके सेवनकी जरूरत नहीं है । फिर चित्त इनकी इच्छा क्यों करता है ? इसलिये करता है कि चित्तको यह भ्रम हो गया है कि इनसे आनन्द मिलेगा । परंतु इनके सेवनसे आनन्द मिलता नहीं । मन और इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंसे मन हर्ष प्राप्त करता है । परंतु वह हर्ष आनन्द नहीं है; क्योंकि वह हर्ष आगे चलकर ग्लानिमें परिणत हो जाता है । यदि भोगोंमें आनन्द होता तो भोग भोगते ही रहनेमें आनन्द-ही-आनन्द लगता । परंतु वैसा लगता नहीं । उल्टे जी ऊब जाता है । आनन्द तो आत्मामें है । चित्त उस आत्मा या परमात्मामें डुबकी मारता है तो आनन्दका अनुभव करता है, प्रसन्न होता है । और उससे हटनेका मन ही नहीं करता । चित्त दीर्घकालका संस्कार होनेके कारण इस बातको सहज ही समझता नहीं । पर सदाचार, सत्सङ्ग, भक्ति और विचारसे धीरे-धीरे समझता है । चित्त जबतक जगत्‌के भोगोंके लिये प्रयास करेगा, तबतक कभी उसे शान्ति मिलनेवाली नहीं ।

(९६) जैसे एक व्यसनी यद्यपि जानता है कि अमुक व्यसनसे उसकी हानि होती है । अतएव उसका त्याग करना चाहिये । तथापि वह उसका त्याग नहीं कर सकता । क्योंकि उसे बहुत दिनोंकी आदत पड़ी होती है । उसी प्रकार मनने भोगोंमें रस मान लिया है और उसकी आदत पड़ गयी है । इसीलिये, भोगोंमें आनन्द नहीं, बल्कि दुःख है—यह जानकर भी वह उनको त्याग नहीं सकता । आदतको निकाल डालनेके लिये सत्सङ्ग, विचार, भगवान्‌की अनन्य शरण और उद्यमकी विशेष आवश्यकता है । और इनका सेवन करके तथा धीरज रखनेसे धीरे-धीरे उनका त्याग हो सकता है ।

(९७) कुछ लोग प्राणायाम सीखने और करनेके लिये कहते हैं, और दूसरे सब जप, ध्यान, पूजा-पाठ आदि साधनोंको गौण बतलाते हैं । कोई कान बंद करके नाद सुनने और उसका अभ्यास करनेके लिये कहते हैं । कोई आँखें बंद करके अँधेरेमें जो कुछ दीख पड़े उसमें वृत्ति लगानेके लिये कहते हैं । इसके तथा इसी प्रकारके अनेकों उपायोंसे अनेक दृश्य दिखलायी देते हैं । अनेकों राग तथा बाजे सुन पड़ते हैं । तदनन्तर बहुत-सी दूसरी सिद्धियाँ आती हैं—ऐसा कहा जाता है और यह बात भी सच्ची है । हम ऐसे लोगोंसे पूछते हैं कि इन सबसे क्या लाभ है ?— संसारमें यश फैले, सम्पत्ति मिले । इससे विशेष लाभ क्या हुआ ? क्या मन मारा गया ? भगवान् मिले ?— उत्तर मिलता है—नहीं । ये सारे रास्ते भयङ्कर हैं । सुन लेना

सहज है, शुरू करना सहज है, परंतु ठेठ पहुँचना कठिन है । इन सब साधनोंको करने जाकर कितने ही लोग तो रोगी हो जाते हैं, कई मर जाते हैं और कितने ही पागल हो जाते हैं। इसलिये आजकलके युगमें भूलकर भी ऐसे मार्ग नहीं ग्रहण करने चाहिये । ईश्वरके नामका जप, इष्टदेवकी प्रेमसे पूजा, उनका ध्यान, पाठ, सदाचार, सत्सङ्ग और हरिकथा तथा अपना उद्यम करते रहनेपर सहज ही मन शान्त हो जायगा तथा भगवान्की प्राप्ति हो जायगी। अतएव लबार, दम्भी, ठग, धूर्तोंके वाग्-विलासके जालमें न पड़कर सर्वभावसे भगवान्की शरण लेनी चाहिये। भगवान् तुम्हारे हैं, सबके हैं । भगवान् सर्वसमर्थ हैं । भगवान् तार देंगे । भगवान्में श्रद्धा रखो और सदाचार तथा सत्सङ्गको कभी न भूलो ।

(९८) बुढ़ापेमें कुछ नहीं होता । हो सके तो अभीसे करना शुरू कर दो । उम्रके बढ़नेके साथ शरीरकी, मनकी तथा इन्द्रियोंकी शक्ति घट जाती है । जठराग्नि मन्द हो जाती है । कानोंसे कम सुनायी देता है । आँखोंसे कम सूझता है । बहुत देरतक बैठा नहीं रहा जाता । माला फेरनेमें हाथ दुखता है । उठा-बैठा नहीं जाता । शरीरमें अनेक प्रकारके रोग हो जाते हैं । इसलिये अभीसे जबतक कि शरीरमें, इन्द्रियोंमें और मनमें शक्ति स्फूर्ति और उत्साह भरा है, तबतक भगवान्के नामका जप खूब करो, व्रत-नियम करनेका यही समय है । परोपकार, लोकसेवा तथा प्राणियोंके उपयोगी कार्य करनेका यही समय है । तीर्थयात्रा करनेका यही समय है । मन और इन्द्रियोंके संयमकी साधनाका यही समय है । भगवान्की भक्ति और सत्सङ्गका यही समय है । सद्गुणोंके धारण करने और दृढ़ करनेका यही समय है । ज्ञान प्राप्त करनेका यही समय है । सब प्रकारके सुकृतोंके करनेका यही समय है । परलोकके पाथेय तैयार कर लेनेका यही समय है । मुक्तिके लिये साधना करनेका यही समय है । ऐसा समय आयेगा जब आँखें अन्धी हो जायँगी, कान बहरे हो जायँगे, घरमें कोई पूछेगा नहीं, कोई कहा नहीं करेगा, भूख बहुत लगेगी पर खाया हुआ पचेगा नहीं, कोई बात करना नहीं चाहेगा, कोई पास नहीं बैठेगा, तुमसे कुछ होगा नहीं और दूसरे कहा करेंगे नहीं, कोई गिनेगा नहीं, चिढ़ावेंगे, दिल्लगी उड़ायेंगे । परिवारके लोग तिरस्कार करेंगे, पैसा पास होगा नहीं । दान-पुण्य होगा नहीं, तप-तीर्थ होगा नहीं, मरनेके समय मल-मूत्रका ठिकाना रहेगा नहीं, होश रहेगा नहीं, सन्निपात हो जायगा, न बोलने योग्य बातें मुँहसे निकलेंगी, कुछ पहचानमें नहीं आयेगा, मन बेचैन हो उठेगा, कण्ठमें कफकी घरघराहट होने लगेगी । इस समय सशक्त अवस्थामें यदि भगवान्की आराधना की हुई होगी, सुकृत किये हुए होंगे, भगवान्को अपनाकर भगवान्की अनन्य शरण ग्रहण की हुई होगी, तो चौदहों लोकोंके नाथ भगवान् आकर सामने खड़े हो जायँगे और बेहोशीकी हालतमें भी भगवान् अपने जनकी बाँह पकड़कर अपने धाममें ले जायँगे । इसलिये भाई ! तुम अपनी सशक्त अवस्थामें ऐसी कमर बाँधो कि (१) भगवान्का नाम-स्मरण खूब करो, (२) जब मौका लगे तभी परोपकार करते रहो, दूसरोंका भला करते चलो, (३) कभी किसीकी बुराई मत करो और (४) सगे-सम्बन्धी तथा इस संसार एवं संसारके भोगोंमेंसे मनको हटाकर उसे भगवान्में जोड़ते रहो । आये अवसरमें चूक जाओगे तो पछताओगे । ऐसा समय फिर नहीं आनेका । उठो । जागते हो या सो रहे हो ? कल्याणके मार्गपर कमर कसकर डट जाओ !

मनमोहनकी छबि

कानन कुंडल भानु न द्वै सम,
आनन पै बलि कोटि ससी ।
मृदु मंजरि मंजुल-सी तुलसी-
दल-फूलन-माल हियें हुलसी ॥

कटि के तट पै कल पीत-पटी,
दु-पटी ति-पटी लपटी-सी लसी ।
पंकज-से पग पै मनि-नूपुर-
की बिलसी छबि नैन बसी ॥

—बाबा हितदास

उत्तररामचरितमें सीताजी

(लेखक—पं० श्रीजयशङ्करजी त्रिपाठी)

उत्तररामचरितमें श्रीसीताजीका लोकोत्तर चरित्र भारतीय नारीके जिस महत्तम आदर्शकी सृष्टि करता है, उसकी कामना ही देशकी मनुता और गौरवका प्रतीक है। भगवान् श्रीरामके साथ उनका वनमें जाना और लङ्काकी यातना ऐसे स्थलोंपर सीताजीका वह परम पावन चरित्र, जिसकी कल्पना भी आजकी नारीमें नहीं कर सकते, महत्तमताकी जिस पराकाष्ठापर पहुँच गया है, श्रीरामभद्रके उत्तरचरितमें वह अलौकिकसे भी अलौकिक है। उनकी उस लोकलीलाका गान वाल्मीकि और कालिदासने भी किया है किंतु उसका प्रत्यक्ष दर्शन कविकुलगुरु भवभूतिके द्वारा ही हुआ है। उनके उत्तररामचरित नाटकमें भगवान्‌की लोक-लीलाके साथ पति-पत्नीके जिन श्रेष्ठतम आदर्शों-की सृष्टि हुई है वह मनुकी सन्तानके मनुजत्वके लिये अति आवश्यक है।

भगवान् लङ्काविजय करके अयोध्या लौटे और सभीकी अभिलाषा पूर्ण करते हुए राजसिंहासनका भार उन्होंने अपने ऊपर लिया। लोकोत्तर आनन्दके साथ प्रजाके दिन बीतने लगे; सीता गर्भवती हुईं जिसके कारण भविष्यकी आनन्दकल्पनामें राजकुल डूब गया और प्रजा भावी सनाथतासे सम्पन्न हुई। इसी समय किसी क्षुद्र नागरिककी सीताके लङ्का-निवासकी अपवाद-कल्पना महाराजा श्रीराघवेन्द्रके कानोंतक पहुँची। यद्यपि ऋषि, महर्षि, लोक सभी जानते थे कि सीताजीकी शुद्धता अग्निके द्वारा प्रमाणित है फिर भी यह लोकापवाद लोकवत्सल रामके लिये चिन्तनीय हो गया। उन्होंने सीताजीके यह कहनेपर कि 'मैं इस प्रत्युत्पन्न-दोहदावस्थामें पुनः उन पूर्व-परिचित वनोंकी सघन, गम्भीर वनराजियोंमें विहरना चाहती हूँ, पुनः शीतलतरङ्ग भगवती भागीरथीमें मज्जन करना चाहती हूँ,' जंगल भेजनेका अच्छा बहाना पाकर प्रजाकी वत्सलताके लिये बड़े खेदके साथ लक्ष्मणके द्वारा सीताको निर्वासित कर दिया।

सीताको जब वन-निवासकी वास्तविकता ज्ञात हुई, तब उन्होंने इसे रामका दोष नहीं वा रामके वात्सल्य भाजन प्रजागणका दोष नहीं, किंतु अपने दुर्विपाकोंका फल समझा। एक बार जब रामने बातों-ही-बातोंमें कहा था कि लोकके स्नेह, दया और सौख्यके लिये जानकी-को त्यागते हुए भी मुझे व्यथा नहीं, तब सीताने कहा इसीलिये तो आप रघुकुलश्रेष्ठ हैं; वह दिन सीताके सामने आ गये, आसन्नप्रसवा सीताने पुनः वनवासके दिन देखे। कितना दारुण कष्ट था, उन्होंने खूब रुदन किया और अपने भाग्यको कोसा; रघुकुलवंशवर्द्धक कुश-लवको जन्म देकर माता धरतीके आश्रित हुईं। इस प्रकार वनवास लेकर राममें एकात्मता रखते हुए सीताने भगवान्‌के लोककार्योंमें उनका पूर्ण साथ दिया। पतिमें स्त्रीको वामाङ्गताका परिचय सीताके चरित्रमें ही होता है।

इतना सब होनेपर भी भगवान् राममें सीताकी एकनिष्ठता थी, रामके प्रति उनमें अलौकिक पूज्यभाव थे। वे वनवास सेवन करती हुई पतिके विरहका कष्ट भोग रही थीं; किंतु इससे भी बढ़कर कष्ट उन्हें यह था कि भगवान् उनके विरहमें व्यथाका भार ढो रहे होंगे; क्योंकि भगवान्‌का उनके प्रति जो प्रेम था उसे वे ही जानती थीं, बिना सीताके भगवान्‌का एक क्षण भी व्यतीत होना कठिन था।

उत्तररामचरितके दूसरे, तीसरे अङ्कमें कविने राम और सीताके अनन्य अपार प्रेमका दर्शन कराया है।

शम्बूकको दण्ड देनेके लिये भगवान् श्रीरामभद्र पूर्व-परिचित दण्डकारण्यमें पहुँचते हैं और शम्बूकको दण्ड दे चुकनेपर दण्डकवनमें जीवनकी पुरानुभूत स्मृतियाँ उनके मनमें जगने लगती हैं। सीताका स्मरण करके वे मूर्च्छित हो जाते हैं; क्योंकि आज सीताका दर्शन तो दूर रहा वे इस लोकमें अब जीवित भी कहाँ हैं? भगवान् रोते हुए कहते हैं—

> त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे-
> स्तस्याः परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
> ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
> क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता!
> (३।२८)

'हा! भयभीत एकवर्षीय मृगशावकके समान चञ्चल आँखोंवाली, आपन्नगर्भसे अलसायी हुई सीता, जिसे मैंने लोकापवादके भयसे वनवास दे दिया उसका मुखचन्द्रसे युक्त कोमल कमलके नालके समान सुन्दर शरीर अब इस संसारमें न रह गया होगा, जंगलमें जंगली जानवरोंने खा डाला होगा!'

भगवान्ने तो यह निश्चय कर लिया था कि जंगल-के हिंसक पशुओंद्वारा सीताकी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी होगी; किंतु बात ऐसी नहीं थी। सीताजी अभी जीवित थीं। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि भगवान् दण्डक वनमें शम्बूकको दण्ड देने आये हैं, तब वे उनका दर्शन करने अपनी सखी तमसाके साथ गुप्त रूपमें वहाँ पहुँचती हैं। भगवान् श्रीराम वनवास-के समयकी सीताकी प्रिय सखी वासन्तीके साथ वनकी अनुपम शोभा, पुराने निवासस्थान, क्रीडाभूमि आदि देखते हुए सीताकी विरहव्यथासे मूर्च्छित हो रहे थे, उधर तमसाके साथ रघुकुलश्रेष्ठ भगवान्को देखनेके लिये आयी हुई सीता उनकी यह दशा देखकर प्रियतम-के दुःखसे कातर होकर अचेतन अवस्थाको प्राप्त होने लगीं।

भगवान् राम 'हा! प्रिये जानकि क्वासि?' आदि कहते हुए अपने उसी विश्वासमें निमग्न थे और उनके साथ वासन्ती भी—

> किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
> कथय नाथ! कथं बत मन्यसे?

—कहकर उनके कथनके समर्थनद्वारा उन्हें और व्याकुल करती है। सीताजी भगवान्की इस दारुण अवस्था-को वासन्तीद्वारा बढ़ते हुए देखकर प्रियके दुःखसे दुखी

'त्वमेव सखि वासन्ति दारुणा कठोरा च या एवमार्यपुत्रं प्रदीप्तं प्रदीपयसि।'

—कहकर मन-ही-मन कोसती हैं। भगवान् श्रीराम बार-बार सीताका स्मरण करके मूर्च्छित होते हैं और सीता भी उनके इस दुःखको देखकर उनसे दूनी संज्ञाहीन होती हैं। इतना सब होनेपर भी भगवान्के प्रत्यक्ष दर्शन सीता नहीं करतीं; क्योंकि सीताको यह डर है कि इस प्रकार करनेपर भगवान्का प्रजा-धर्म कहीं नष्ट न हो जाय। इधर सीताकी पतिमें एक-निष्ठता, इधर रामका उनके प्रति असीम अनुराग—दोनोंकी विरहज्वालाको दूने रूपसे प्रदीप्त कर रहा है, दोनों उस विरहव्यथामें संज्ञाहीन हो रहे हैं; किंतु प्रजा-वत्सल भगवान्का कार्य था प्रजारञ्जन और भगवान्की मनोवृत्तियोंका अनुसरण सीताके लिये अनिवार्य था। अहो! धन्य है वह चरित्र! उसके बलपर पत्थर पानीमें क्या हवामें भी तैर सकते हैं। गुप्तरूपसे खड़ी सीता भगवान्के इस दारुण कष्टमें अत्यन्त दुखी हो रही हैं; किंतु कहीं भगवान्का धर्मभङ्ग न हो। उनकी मनो-वृत्तियोंको समझकर उस भयसे सीता कष्ट सहती हैं पर प्रकट नहीं होतीं; ऐसी दारुण अवस्थामें भी प्रियके धर्मपालनमें इतना अनुराग! अपनी स्मृतिमें प्रियको दुखी देखकर जब सीता कहती हैं—

'एवमस्मि मन्दभागिनी पुनरपि आयासकारिणी आर्यपुत्रस्य।'

उस समय दुःखदायिनी रामकी अपराधिनी सीताके अनुरागकी पराकाष्ठा होती है।

सातवें अङ्कमें जब सबका सम्मेलन होता है, वशिष्ठकी धर्मपत्नी अरुन्धती पुत्र रामको आदेश देती हैं—

जगत्पते रामभद्र !

नियोजय यथा धर्मे प्रियां त्वं धर्मचारिणीम्।
हिरण्मयाः प्रतिकृतेः पुण्यप्रकृतिमध्वरे ॥

तब सीता मनमें कहती हैं—

'जानाति आर्यपुत्रः सीतादुःखं प्रमार्ष्टुम्।'

—अर्थात् कहनेकी आवश्यकता नहीं। रामके प्रति सीताकी कैसी अनन्य भावना है ! रामके पूर्व-चरित्रमें लङ्कामें 'सो भुज कंठ कि तव असि घोरा' की प्रतिज्ञा करनेवाली सीताका जैसा असामान्य चरित्र प्रकट हुआ है, वैसा ही उत्तररामचरितमें असाधारण स्वरूप दिखायी पड़ता है।

ऐसी ही पुत्रीके पिता होकर जनकने अपनी जनकता-को धन्य माना है। चौथे अङ्कमें पुत्रीके निर्वासनसे दुखी होकर पुरवासियोंके मर्यादा-उल्लङ्घन तथा रामकी अविचारशीलताके अपराधमें राजर्षि जनकके क्रोधकी चाप या शापके द्वारा प्रज्वलन-वेला देखकर सभी भयभीत हो जाते हैं और उनसे प्रजाके प्रति वात्सल्यभावकी याचना करते हैं।

कञ्चुकी दुःख प्रकट करती हुई कहती है—

'रामभद्रस्यापि दैवदुर्नियोगः कोऽपि यत्पौरजान-पदा नाग्निशुद्धिम् अल्पकाः प्रपिपद्यन्ते इत्यतो दारुणं-मनुष्ठितम्।'

यह सुनकर राजर्षि जनक सन्तापसे विह्वल होकर कहते हैं—

'आः कोऽयमग्निर्नाम अस्मत्प्रसूतिपरिशोधने ? कष्टम्! एवंवादिना जनेन रामपरिभूता अपि वयं पुनः परिभूयामहे।'

'मेरी प्रसूतिका परिशोधन करनेवाला अग्नि नामका कौन है ? उसकी क्या सत्ता है। अहा कष्ट ! ऐसे कहनेवाले व्यक्तिसे रामसे अपमानित किये गये हमलोग पुनः अपमानित हुए।' यह सुनकर अरुन्धतीने कहा—अवश्य अग्नि यह वत्सा सीताके प्रति बहुत लघुतर अक्षर हैं और एक निःश्वास लेते हुए बोलीं—हा वत्से !

शिशुर्वा शिष्या वा यदसि मम तत्तिष्ठतु तथा
विशुद्धेरुत्कर्षस्त्वयि तु मम भक्तिं जनयति।
शिशुत्वं स्त्रैणं वा भवतु ननु वन्द्यासि जगतां
गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ॥
(४।११)

'सीते ! मेरे सम्बन्धसे तुम शिशु हो या शिष्या हो, जैसी भी हो किंतु तुम्हारे चरित्रका उत्कर्ष तुम्हें मेरेलिये वन्दनीय बना रहा है। शिशुत्व हो वा स्त्रीत्व हो, तुम जगत्के लिये पूज्या हो। गुण ही पूजाके स्थान होते हैं, उसमें लिङ्ग और अवस्थाका भेद नहीं होता।'

धन्य है सीताका परम पवित्र चरित्र, जिसके गुण-गानमें माता अरुन्धती भी विह्वल हैं।

निश्चय ही भारतीय नारीके आदर्शनिरूपणमें महा-कवि भवभूतिको अनन्य सफलता मिलती है। उनके द्वारा निर्दिष्ट सीताका चरित्र भारतीय नारी-समाजके लिये सञ्चित निधि है।

करत रोष नहिं काहु सन, नहिं काहू सन प्रीति। तुलसी देखु विचारि किन, यह बर नरकी रीति ॥
खेदत काहु कहँ नहीं, नहिं बुलाइ कै लेत। माँगत काहू तें न कछु, नहिं काहू कछु देत ॥
—मनोबोध

अजामिल-उद्धार और नाम-महिमा*

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजी महाराज)

दो०—बोले शुक—नृप ! चित चपल, काहूमहँ लगि जाय।
तौ सोवत बैठत उठत, सब थल वही लखाय॥
चित्त अजामिलको फँस्यो, नारायन सुतमाहिं।
नाम नरायन प्रिय लगत, सुनत नयन भरि जाहिं॥

छ०—नारायनमहँ चित्त फँस्यो, नारायन नितदिन।
सेवै प्रान समान रहै छिनहू नहिं वा बिन॥
वेश्यापति यों फँस्यो मोहमहँ मृत्यु बिसारी।
परि निरवार कराल कालकी आई बारी॥
मृत्यु समय यमकिंकरनि, पकरयो पापी अजामिल।
'नारायन' मुखतें कह्यो, खेलत सुतकूँ लखि विकल॥

सुनि नारायन नाम विष्णु-पार्षद तहँ आये।
यमदूतनिकूँ पकरि गदातें मारि गिराये॥
डरिकें पूछैं 'दूत कौन तुम हमें भगाओ।
मोल भाव बिनु किये तड़ातड़ मार लगाओ॥
धर्मराजके दूत हम, पापीकूँ लै जात हैं।
करयो न हम अपराध कछु, काहे आप खिस्यात हैं'॥

विष्णु पारषद कहैं—'धरमको मरम बताओ।
दंड जोग जिह नाहिं जाइ क्यौं ब्यरथ सताओ'॥
बोले यमके दूत 'धरम जो वेद बखान्यो।
है अधरम बिपरीत बेद हरि रूपहि मान्यो॥
हिंसक पापी सुरापी कूँ यमपुर लै जायँगे।
नरक अगिनिमें डारिकें जाकूँ बिमल बनायँगे'॥

हरि-पार्षद पुनि कहें—'दूत ! तुम कछु नहिं जानों।
ब्यरथ बजाओ गाल बिज्ञ अपनेकूँ मानों॥
नारायन यह कह्यो अन्तमहँ मुखतें जानें।
तौ हम ताकूँ फेरि परम पावन नर मानें॥
चोर, जार, हिंसक, कुटिल, पापी चाहें होय अति।
नाम उचारनतें तुरत, होइ शुद्ध पावै सुगति॥

प्रायश्चित मनु आदि पापके विविध बतावें।
तिनतें छूटें पाप किन्तु जड़तें नहिं जावें॥
रहै बासना बनी फेरि हू पाप करिंगे।
पुनि पुनि करिकें पाप नरकमहँ मनुज परिंगे॥
प्रायश्चित सब पापको, पुरुषोत्तमको नाम है।
तुम उच्चारन भर करो, फेरि नामको काम है॥

लेवें जाको नाम यादि गुन ताके आवें।
पुन्य कीर्ति भगवान नाम गुन ज्ञान करावें॥
हरि गुन मनमहँ धँसे फेरि क्यौं पाप रहिंगे।
बहुतक होवें हिरन सिंहकूँ देखि भगिंगे॥
इत उत भटकै जीव क्यों, करे ब्यर्थके काम तू।
सब प्रपञ्चकूँ छाँड़िकें, क्यौं न लेइ हरि-नाम तू॥

कैसे हूँ हरिनाम लेत, फल निश्चय देवै।
चाहें मनतें लेइ भले वेमनके लेवै॥
हरिको लैकें नाम मार्गमें आवै जावै।
कृष्ण कृष्ण संकेत करें सब वस्तु मँगावै॥
मोदक घी बूरो सन्यो, दिनमें खाओ रातिमें।
सब थल मीठो लगैगौ, घर खाओ या पाँतिमें॥

भक्त न करें बिनोद विषय सम्बन्ध जोरिकें।
रहें उदासी सदा जगत सम्बन्ध तोरिकें॥
लै लै हरिके नाम प्रेमतें हँसें हँसावें।
रामभक्त करि हँसी कृष्णकूँ चोर बतावें॥
कृष्णभक्त हँसि रामकूँ, बानर-भालूपति कहत।
बनि बैरागी राम तो, बन बनमें रोवत फिरत॥

राग अलापन हेतु रामको नाम उचारें।
चाहें कहि कहि रामभक्तकूँ ताने मारें॥
राम कहत लड़ि जायँ राम कहि प्रेम जतावें।
ते नर कबहूँ भूलि नरककी गैल न जावें॥
बिनु इच्छा ऊ रुईपै, चिनगारी पावक परै।
जरे रुई तो अवसि ही, नाम नास अघ त्यौं करै॥

गिरत परत मग चलत रपटि कीचड़ महँ जावै।
अंग भंग ह्वै जायँ जीव हिंसकहु सतावै॥
काटे कोई आइ देहमहँ पीड़ा होवै।
ज्वर को होवै बेग चेतनाकूँ नर खोवै॥
कैसेहु नर विवश ह्वै, हरि उच्चारन करिंगे।
नाम प्रतिष्ठाके निमित, अघ तिनके हरि हरिंगे॥

---

* श्रीब्रह्मचारीजीका 'भागवत-चरित' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ छप रहा है। लगभग ८०० पृष्ठका ग्रन्थ होगा। प्रायः सौ चित्र होंगे। मूल्य ५।) होगा। पुस्तक 'सङ्कीर्तन-भवन, झूसी'से प्रकाशित होगी। यह अंश उसी पुस्तकसे लिया गया है।

निज शुककूँ करि प्यार नित्य गनिका पुचकारै।
मनविनोदके निमित रामको नाम उचारै॥
स्वयं कहै हरि नाम और खगतें कहवावै।
शुकमुखतें अति मधुर नाम सुनि हिय हरषावै॥
मरन समय अघ सुमिरिकें, वेश्या अति व्याकुल भई।
संत चितायो अंत हरि, नाम कह्यो हरिपुर गई॥

हरिकीर्तन वा श्रवन करें श्रद्धा बिनु प्रानी।
निश्चय तेऊ तरैं, वेद-संतनिकी बानी॥
राम विमुख लखि संत जीवपै यदि ढुरि जावें।
बिनु इच्छाऊ देहिं नाम तोऊ तरि जावें॥
कृष्ण नाम भव रोगकी, है अचूक ओषध सुगम।
चाहें ज्यों सेवन करो, निश्चय देगी पद परम॥

संत अनुग्रह करी विमुखकूँ नाम सुनायौ।
मर्यो अधम जब दूत तुरत यमपुर पहुँचायौ॥
नाम श्रवनको पुण्य सुन्यो सब सुर घबराये।
ब्रह्मलोक शिवलोक फेरि सब हरिपुर आये॥
सुनि सब हरिने अंकमहँ, प्रेम सहित वाकूँ लयो।
भवबन्धनतें मुक्त ह्वै, प्रभु पार्षद वह बनि गयो'॥

सुनिकें यमके दूत नाममहिमा हुलसाये।
पाशमुक्त सो कर्यौ दौरि संयमनी आये॥
इत सुनि शुभ संवाद नामकी महिमा जानी।
निज पापनिकूँ सुमिरि अजामिल मन अति ग्लानी॥
करि पापनिकूँ यादि जो, पछितावें दुख अति करैं।
तिनके अघ सन्ताप प्रभु, जानि हृदय मल सब हरैं॥

बारबार धिक्कार अजामिल देवै मनकूँ।
हाय! पापमहँ फँस्यो भुलायो निज द्विजपनकूँ॥
तजे पिता अरु मातु दुःख जिन सहि सुख दीन्हों।
तजी सती निज नारि मोह वेश्यातें कीन्हों॥
करे पाप अति भयानक, करूँ न ऐसे काम अब।
बिगरी मेरी बात तो, किन्तु बनाई नाम सब॥

यों करि पश्चाताप मोह ममता सब त्यागी।
वेश्या अरु सुत त्यागि राग तजि भयो बिरागी॥
हरिद्वारमहँ जाइ योगको आश्रय लीन्हों।
विषयनितें मुँह मोरि युक्तितें मन बस कीन्हों॥
दृश्यवर्गतें पृथक करि, आत्मा ज्ञान स्वरूपमहँ।
फेरि अजामिल भक्तियुत, भये पारषद रूपमहँ॥

आयौ दिव्य विमान निहारे पार्षद तेई।
पहिचाने ततकाल नाम दाता गुरु येई॥
पंचभूतकी देह त्यागि पार्षद बपु धार्यो।
तब फिर चल्यो विमान दिव्य वैकुण्ठ सिधार्यो॥
अधम अजामिल हू तर्यो, नारायन कहि पुत्रहित।
ते फिर क्यों नहिं नर तरें, लेहिं नाम जे शुद्धचित॥

संयमनी-पति निकट गये यमदूत खिस्याने।
बिना भावके मार पड़ी सब अंग पिराने॥
हाथ जोरि सब कहें—'प्रभो! तुमई जगस्वामी।
या तुमतें हू अपर ईश बड़ अन्तरयामी॥
लावत हे हम नरकमहँ, जा पापीकूँ पकरिकें।
चारि पुरुष आये तहाँ, छुड़वायो अति झिरकिकें॥

शङ्ख चक्र बनमाल गदामृत सेवक किनिके।
काके हैं वे दूत कौन स्वामी हैं तिनिके॥
सबके शासक आप जीव प्राननिके हरता।
शासन सबको करैं शुभाशुभ निरनय करता॥
इतने पै ऊ आपकी, आज्ञा उल्लंघन भई।
बिना बातके बीचमें, हमरी दुरगति ह्वै गई॥

नारायन है मन्त्र जंत्र वा जादू टौंना।
काहू नरने मृत्यु समय जिंह नाम कह्यो ना'॥
सुनि नारायन नाम भयो तनु पुलकित यमको।
प्रेम मगन ह्वै कर्यौ ध्यान भगवत-चरननिको॥
'जलद सरिस अति बिमलवर, जो हरि नित्य नवीन हैं।
शिव विरंचि इन्द्रादि हम, तिनके नित्य अधीन हैं॥

गुह्यभागवत धरम देवता सिद्ध न जानें।
फिर नर, दानव, दैत्य ताहि कैसे पहिचानें॥
अज,शिव,नारद,जनक,कपिल,मनु,बलि,शुक,ज्ञानी।
भीष्महु, सनत्कुमार, धरम, प्रहलाद अमानी॥
जानि भागवत धरमकूँ, परम भागवत ये भये।
अन्य भक्त हू भक्तितें, नाम लिये हरिपुर गये'॥

दूत कहें—'अब, नाथ! नियम हमकूँ बतलावैं।
जाहुँ न किनके पास पकरि किनकूँ हम लावैं'॥
धरमराज तब कहें 'नाम हरि जे न उचारैं।
चितमें कबहूँ चरनकमल हरिके नहिं धारैं॥
नहीं नवैं सिर कृष्णकूँ, हरिचर्यातें जे विमुख।
लाओ तिनकूँ पकरिकैं, आइ उठावैं नरक दुख॥

नाम गान सम जगत माहिं साधन नहिं दूजो।
करो यज्ञ व्रत दान भले प्रेतनिकूँ पूजो॥
नाम उचारत तुरत मलिनता मनकी जावै।
माया-मोह नसाय प्रेम प्रभुको हिय आवै॥
नामकीरतन जे करहिं, जाउ न तिनके ढिंग कबहुँ।
पहिले पापी रहे वे, आवें मम गृह नहिं तबहुँ॥
कृष्ण कीरतन गुन गौरव जे गान करहिं नर।
वे कबहूँ नहिं भूलि निहारें नीरस मम घर॥
सब पापनिको एक प्राइचित मुनिनि बखानों।
होयँ नामके रसिक उनहिं मेरो गुरु मानों'॥

यम आज्ञा दूतनि सुनी, शिरोधार्य सबने करी।
हरिकीर्तन करिकें चले, सब मिलि बोली जय हरी॥
सो०—ता दिनतें मम दूत, नाम सुनत भगि जात झट।
होत नामतें पूत, वा दिनतें निश्चय भयो॥
छ०—पुन्य अजामिल चरित महापापी हू गावैं।
गाइ हियेमहँ धरें पाप पुनि चित्त न लावैं॥
तिनके पाप पहाड़ भस्म सबरे ह्वै जावैं।
जीवत सब सुख लहैं अन्तमहँ प्रभुपद पावैं॥
अरथबाद याकूँ कहैं, ते नर कोरे रहिंगे।
जीवत जग निन्दा लहैं, मरि नरकनिमहँ परिंगे॥

सत्यमेव जयते नानृतम्

(लेखक—पं० श्रीरघुवर मिट्ठूलालजी शास्त्री, एम्० ए०, विद्याभूषण)

'सत्यमेव जयते नानृतम्' यह वाक्य स्वतन्त्र भारतका स्मारकसूत्र (Motto) है। इसका अर्थ यह है कि सत्यवादी पक्ष ही जीतता है, झूठा नहीं। यह वाक्य अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद्में आया है। इस प्रकरणके दो मन्त्र ये हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥
सत्यमेव जयते नानृतं
सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा
यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥
(३।१।५-६)

उपनिषदोंका विषय तो है आत्माका वर्णन। अतः अन्य प्रासङ्गिक विषय जो आत्माकी गुत्थी सुलझानेके लिये आख्यायिकादिके रूपमें समाविष्ट किये गये हैं वे अर्थवाद-वाक्य हैं जिनका तात्पर्य उस-उस विषयकी स्तुति वा निन्दाके द्वारा मुख्य विषयकी सङ्गतिमें होता है। इनमेंसे प्रथम मन्त्रमें तो आत्माकी उपलब्धि करानेवाले चार मुख्य निवृत्तिप्रधान साधनोंकी स्तुति की गयी है और द्वितीयमें उन चारोंमें भी प्रधान सत्यकी। शरीरके भीतर यह प्रकाशमय और शुद्ध आत्मा, जिसको वे संन्यासी देखा करते हैं जिनके चित्तके क्रोधादि मल क्षीण हो गये हैं, नित्य सत्यके सेवनसे (अर्थात् अनृत=मिथ्याभाषणके त्यागसे) नित्य तपसे (अर्थात् मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रताके अभ्याससे) सतत सम्यग्-ज्ञान से(अर्थात् अपरिपक्क ज्ञानावस्थावाले वाक्यार्थज्ञानरूप यथार्थ आत्मदर्शनसे) और अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालनसे प्राप्त होता है। इन साधनोंका नित्य (निरन्तर) प्रयोग न करके कदाचित् उपयोग करनेवालेको आत्मप्राप्ति होना असम्भव है। सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं। कामना (तृष्णा) से रहित हुए ऋषि (तत्त्वदर्शी) लोग जिसपरसे चलते हैं वह देवयानमार्ग सत्यसे विस्तीर्ण (सतत चालू) है। वे जहाँ पहुँचते हैं वह परमार्थ-तत्त्व (ब्रह्म) सत्यका परम निधान है। अर्थात् उसका दर्शन उन्हींको होता है जो कुहक (पर-वञ्चना), माया (जो भीतर किसी अन्य रूपमें है उसे बाहर अन्य रूपमें प्रकाशन करने), शाठ्य(विभवानुसार दान न करने),अहङ्कार (मिथ्याभिमान), दम्भ (ढोंग रचने) और अनृत (जैसा देखा-सुना हो उससे विपरीत बोलने) से सर्वथा रहित हैं।

यद्यपि सत्य और अनृत (झूठ) की यह चर्चा परमार्थतत्त्वके साधनरूपसे की गयी है तथापि यह वही सत्य [और अनृत] है जो वाणीका विषय होनेसे परमार्थ-तत्त्वका साधन (means to the Absolute Truth) होता हुआ भी आपेक्षिक सत्य (relative truth) के रूपमें सांसारिक संस्थाओं (मानव-समाज, न्यायालय, स्व-पर-राष्ट्र इत्यादि) से भी सम्बन्ध रखता है। अतएव

उक्त वाक्यका स्वतन्त्र भारतके लिये स्मारक-सूत्र बनाया जाना चरितार्थ और उचित है ।

उपनिषदोंमें 'सत्य' शब्दका प्रयोग दो अर्थोंमें मिलता है—एक तो साध्य (उपेय ब्रह्म)-रूप और द्वितीय साधन (उपाय)-रूप । प्रथम वाणीका विषय नहीं है और द्वितीय वाणीका विषय है । ब्रह्मके स्वरूपलक्षणके प्रसिद्ध वाक्य 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्तिरीयोपनिषद् ब्रह्मानन्द-वल्ली प्रथमानुवाक) में आया हुआ 'सत्य' शब्द तो प्रथम अर्थ (परमार्थरूप सत्य Absolute Truth) का उदाहरण है और (तै० शीक्षाध्याय प्रथमवल्लीके एकादश अनुवाकके) 'सत्यं वद' 'सत्यान्न प्रमदितव्यम्' वाक्योंका 'सत्य' शब्द द्वितीयार्थ (आपेक्षिक सत्य relative truth) का वाचक है । प्रथमार्थके सूचक कुछ स्थल ये हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
(ईश० १५; बृहदारण्यक० ५ । १५)

सत्य (आदित्यमण्डलस्थ ब्रह्म) का मुख (द्वार) ज्योतिर्मय ढक्कनसे आच्छादित है । 'तदेतत्सत्यम्' (मुण्ड० २ । १ । १; २ । २ । २; ३ । २ । ११) परविद्याका विषय यह अक्षरपुरुष परमार्थसत्य (Absolute Truth) है । एतद्भिन्न सभी कुछ अविद्याका विषय होनेसे अनृत है । जो अपरविद्याका विषय है वह कर्मफल आपेक्षिक सत्य (relative truth) है ।

येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्म-विद्याम् । (मुण्डक० १ । २ । १३)

जिस ज्ञान (विद्या) से [शिष्य] अविनश्वर सत्य पुरुषको जाने [गुरु] उस ब्रह्मविद्याको यथावत् बतलाता है । 'एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति' (छान्दोग्य० ८ । ३ । ४) 'तत्सत्यं स आत्मा' (छान्दोग्य० ६ । ८ । ७, ९ । ४, १० । ३, ११ । ३, १२ । ३, १३ । ३, १४ । ३, १५ । ३, १६ । ३) इस ब्रह्मका नाम 'सत्य' है । वह सत्य है, वह आत्मा है ।

'सत्य' शब्दकी निरुक्ति छान्दोग्योपनिषद् (८ । ३ । ५) में इस प्रकारसे की गयी है कि ये तीन अक्षर 'स—ती—यम' हैं । 'स' अमर है, 'ती' मरणशील है और 'यम' दोनों अक्षरोंको नियमित करता है । बृहदारण्यकोपनिषद् (५ । ५) में 'सत्य ब्रह्म है जिसकी देव उपासना करते हैं' यह बतलाकर 'सत्य' इसी उक्त निरुक्तिका अर्थ यों किया गया है कि 'स' और 'यम' तो सत्य हैं, मध्यका अक्षर 'ती' अनृत है, सो यह अनृत दोनों ओरसे सत्यसे जकड़ा (दबा) हुआ है, अतः अनृतकी मात्रा सत्यकी अपेक्षा हलकी पड़नेसे सत्यका ही पलड़ा भारी रहता है ।

बृहदारण्यक (५ । ४) में सत्यको ब्रह्म कहा है । नारायणोपनिषद् (६८) में 'ॐ तत्सत्यम्' उस ब्रह्मको सत्य कहा है । तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ६ । २) में ब्रह्मको सत्यात्म (सत्यस्वरूप) कहा है ।

आपेक्षिक सत्यके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग उपनिषदोंमें इससे कहीं अधिक स्थलोंमें मिलता है । उनमेंसे दिग्दर्शन-मात्र कुछ यहाँ दिखलाये जाते हैं—

मुण्डकोपनिषद्के पूर्वोक्त पूर्ण मन्त्रोंके अतिरिक्त 'अन्नात्प्राणो मनः सत्यम्' (१ । १ । ८) में 'सत्य' का वाच्य ५ भूत हैं । पुनः (१ । २ । १ में) 'तदेतत्सत्यम्' वाक्यका 'सत्य' अवितथ (झूठके विपरीत) के साधारण अर्थमें आया है । तैत्तिरीयोपनिषद्के प्रारम्भमें 'ऋतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि' के भाष्यमें भगवान् श्रीशङ्कर-स्वामीने 'ऋत' का 'यथाशास्त्र यथाकर्तव्य बुद्धिमें सुपरिनिश्चित अर्थ' और 'सत्य' का 'वही जब वाणी और शारीरिकी क्रियामें उतरता है' ऐसा अर्थ किया है । वेदोंमें 'ऋत' शब्द बहुत आता है । इसका अर्थ पाश्चात्य विद्वानोंने 'नियम' (law) किया है । परंतु 'अनृत' जो 'ऋत' का उलटा है जब प्रायः झूठका ही अर्थ देता है तो 'ऋत' भी 'सत्य' का ही पर्यायविशेष होना चाहिये । 'ऋत' का आचार्य श्रीशङ्कर स्वामिकृत अर्थ ही युक्तिक्षम है; क्योंकि 'ऋत' भी उसी गमनार्थक 'ऋ' धातुसे बना है जिससे 'ऋषि' बना है अर्थात् जिसके हृदयमें वेदमन्त्र जायें (वा प्रकट हों)। सत्यका ही बुद्धिमें निश्चित (Subjective) पूर्वरूप 'ऋत' है, वही वाणी और शरीरद्वारा निष्पन्न (objective) होकर 'सत्य' कहलाता है । अतः बुद्धिमें आया हुआ और बाहर प्रकट होनेसे पूर्वकी अवस्थावाला सत्य ही 'ऋत' है ।

केनोपनिषद् (४ । ८) में 'सत्य' तप, दम और कर्मोंके साथ उसी प्रकार ब्रह्मप्राप्तिका उपाय (साधन) बतलाया गया है जैसे मुण्डकोपनिषद्में 'सत्य' तप, सम्यग्ज्ञान और ब्रह्मचर्यके साथ । यहाँ आचार्यपाद श्रीशङ्कर स्वामीने पद-भाष्यमें कहा है कि 'सत्य' वाणी, मन और शरीर तीनोंका माया-कुटिलतासे रहित होना है । और इन दोनों स्थलोंके भाष्यमें प्रश्नोपनिषद्के प्रथम प्रश्नके अन्तका—

'.........न येषु जिह्ममनृतं न माया च'

अर्थात् जिन [ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थों और भिक्षुओं (संन्यासियों)] में [तप, ब्रह्मचर्य और सत्य (अनृत-वर्जन=झूठसे परहेज) प्रतिष्ठित (स्वभाव-सिद्ध) हो गया है और अनेक विरुद्ध संव्यवहार प्रयोजनवाले गृहस्थोंकी-सी] कुटिलता, अनृत और माया (मिथ्याचार अर्थात् बाहरसे अपनेको अन्यथा प्रकाशित करके उससे अन्यथा कार्य करना) नहीं है [क्योंकि इसके लिये कोई कारण ही नहीं रह गया है] उन्हींको यह शुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है—यह वाक्य प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है।

ये ही साधन ऋत, सत्य, तप, दम, शम इत्यादि नामोंसे तैत्तिरीयोपनिषद् (१ । ९) में वर्णित हुए हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १५) में भी—

'एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति'

अर्थात् इस प्रकार यह आत्मा शरीरके भीतर उसे प्राप्त होता है जो सत्य और तप [आदि साधनों] से इसे ढूँढ़ता है—ऐसा कहकर सत्य-प्रधान इन्हीं साधनोंका महत्त्व प्रदर्शित हुआ है।

इन साधनोंके द्वारा समस्त दृश्यमान जगत्में समानरूपसे व्याप्त एकमात्र सत्य ब्रह्म या आत्माकी प्राप्ति जिस उपायसे होती है वह अष्टाङ्गयोग पातञ्जलयोगदर्शनमें उपवर्णित है। इस योगके—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ अङ्ग हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' और शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान—ये ५ 'नियम' आधार-शिला हैं जिनके अभावमें ऊपरकी उठायी हुई योगकी दीवारें और छतें टिक ही नहीं सकती हैं।

'यमों' वाले सूत्र (२ । ३०) पर व्यास-भाष्यमें कहा गया है कि सर्वथा सर्वदा समस्त प्राणियोंसे अनभिद्रोहका नाम 'अहिंसा' है। आगेवाले यमों और नियमोंका मूल यही है। इसीकी साधना पूरी करनेके अभिप्रायसे और इसीका प्रतिपादन करनेके लिये उनका प्रतिपादन किया गया है। यदि उनका अनुष्ठान न किया जाय तो अहिंसा असत्यादिकोंसे मलिन रह जायगी। अतः उसी (अहिंसा) का रूप उज्ज्वल करनेके लिये इन सबका ग्रहण किया है। कहा भी है—'जैसे-जैसे यह ब्राह्मण (अर्थात् ब्रह्मप्राप्तिका अभ्यासी) बहुतसे [सत्यादि] व्रतों (यम-नियमों) को ग्रहण करता जाता है वैसे-वैसे (उसी अनुपातसे) प्रमादवश होनेवाले हिंसाके कारणोंसे निवृत्त होता हुआ उसी अहिंसाको अपनेमें उज्ज्वलरूपा बनाता है।' यथार्थ वाणी और मनको सत्य कहते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाणोंसे जैसा यथार्थ निश्चयज्ञान प्राप्त किया अर्थात् जैसा देखा, अनुमान किया और सुना हो उसीके अनुसार वाणी और मनका प्रयोग होना चाहिये। अपना अनुभव दूसरेमें पहुँचानेके लिये वाणी बोली जाती है। वह यदि वञ्चना, भ्रान्ति या बोध-निष्फलतासे रहित हो तो सब प्राणियोंके उपकारके लिये प्रवृत्त होती है, न कि उनको पीड़ा पहुँचानेके लिये। यदि इस प्रकार बोली जाती हुई भी प्राणियोंकी पीड़ा ही करे तो सत्य नहीं किंतु सत्याभास और पापरूप ही होगी। ऐसे पुण्यविरोधी पुण्याभाससे बड़े अनर्थको ही प्राप्त होगा। इसलिये परीक्षण करके सब प्राणियोंके हितरूप सत्यको बोलना चाहिये। शास्त्रके विरुद्ध अन्यके पाससे द्रव्योंका अपनाना (ले लेना) स्तेय (चोरी) है। इसका उलटा अस्पृहा-रूप अस्तेय है। उपस्थ (गुप्त) इन्द्रियके संयमको ब्रह्मचर्य कहते हैं। विषयोंके अर्जन, रक्षण, क्षय, सङ्ग, हिंसा-सम्बन्धी दोष-दर्शनके कारणसे उनका स्वीकार न करना (अपने मनमें स्थान न देना) अपरिग्रह कहलाता है।

योगसूत्र (२ । ३१) के अनुसार ये साधारण व्रत यदि जाति, देश, काल और समय (अवस्थाविशेष) से सीमित न हों तो 'महाव्रत' कहलाते हैं। योगसूत्र (२ । ३६) 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' के अनुसार सत्यमें स्वाभाविक स्थितिलाभ हो जानेपर साधककी वाणी निष्फल नहीं जाती है अर्थात् जो कह देता है वही हो जाता है।

मनुजी (४ । २०४ में) कहते हैं कि यमोंका निरन्तर सेवन करे, नियमोंका भले ही सदा सेवन न करे; क्योंकि केवल नियमों (शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) का पालन करता हुआ और उक्त यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) का अनुष्ठान न करता हुआ पतित हो जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ताध्याय (श्लोक ३१२-३१३) में यमों और नियमोंका विशद वर्णन है। मनु (१० । ६३) [और याज्ञवल्क्य १ । १२२] के अनुसार—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

तथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रियनिग्रह—ये पाँचों तथा दान, दम, दया और सहनशीलता—सब मिलाकर ९ धर्म मनुष्यमात्रके लिये अनुष्ठेय हैं। मनुने (११। २२२ में) अहिंसा, सत्य, अक्रोध और सरलभावका आचरण करनेका विधान किया है। (२। ८३ में) मौनसे सत्यको विशिष्ट बतलाया है। (६। ९२ में) चारों आश्रमोंके द्विजोंको दस लक्षणोंवाला धर्म—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—सेवन करनेका आदेश किया है और (६। ९३-९४ में) कहा है कि इनका सेवन करनेवाला द्विज वेदान्तश्रवण करके संन्यास ले ले, इनकी पूर्णता [के आत्मज्ञानकी सहकारिणी होने] से मोक्ष होता है।

अन्य अनेक स्थलोंमें मनु और याज्ञवल्क्यने सत्यके महत्त्व और अनृतके दुष्फलका विशद निरूपण किया है। मनुने न्यायालयमें सत्यानृतकी परीक्षा कैसे करनी चाहिये तथा व्यवहारमें सत्यका क्या महत्त्व है यह अध्याय ८ श्लोक १४, ३५, ३६, ४५, ६१, ७४, ७६, ७८ से १०१, १०३ से १०५, १०९, ११३, ११६, ११८-११९, १६४, १६५, १६८, १७९, २१९, २५७, २७३-७४ में स्पष्ट किया है। सत्यसे रहित ब्राह्मण अपात्र (११। ६९) हो जाता है और राजाका सत्यवादी होना मनु (७। २६) का आदर्श ही है। मन सत्यसे शुद्ध (५। १०९) होता है।

गीता (१७। १५) में उद्वेग न करनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारक वचन तथा स्वाध्यायका अभ्यास—यह वाणीका तप कहा गया है। (१६। १-२ में) अभय, सत्त्व, शुद्धि, दान, दम, स्वाध्याय, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शान्ति, दयादि दैवीसम्पत्के गुणोंमें गिनाये हैं। एवं (१६। ७-८ के अनुसार) आसुरी प्रकृतिके लोगोंमें शौच, आचार, सत्य नहीं होता है। वे जगत्‌भरको ही सत्यरहित और स्थिति (मर्यादा)-रहित मानते हैं। (१०। ४-५ के अनुसार) सत्य, दम, शम, अहिंसा, तप, दान आदि प्राणियोंके भाव भगवान्‌से ही अनेक रूपोंमें आते हैं।

इस प्रकारसे इस लोक और परलोकमें अन्ततः सत्य ही विजयी होता है, अनृत नहीं। इस वाक्यको जब हमने स्वतन्त्र भारतके स्मारकसूत्रका पद दे रक्खा है, तब राष्ट्रके प्रत्येक बालककी शिक्षा-दीक्षामें यह वाक्य ऐसा घुल-मिल जाना चाहिये कि इससे हमारा राष्ट्र वास्तविक और स्थायी रूपसे उन्नत हो एवं आजकी बढ़ी हुई चरित्रहीनता दूर हो।

धारक और पालक

(लेखक—श्री'चक्र')

[कहानी]

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः॥
(गीता १५। १३)

आधिदैवत जगत्‌की बात—

वनस्पतिराज सोम आसनासीन थे। दूर्वा, लघु-तृणसे लेकर छोटे वीरुध, झबरे क्षुप, ठिंगनी झाड़ियाँ, लचीली लतिकाएँ, विशाल ऊँचे पादप सभी एकत्र हुए थे। सब खिन्न थे। सब दुखी थे। सब संकटसे परित्राण चाहते थे।

'हमें विलासोद्यानोंकी शोभा बना दिया गया है। तनिक लहरानेका मन करते ही काट दिया जाता है। न यज्ञकी सुरभि प्राप्त होती और न जगदाराध्यको अर्पित होनेका सौभाग्य ही।' दूर्वाने अपना अभियोग उपस्थित किया। 'गायोंका पवित्र ग्रास बननेके स्थानपर हमें अश्वतरियों (खच्चरियों) और गर्दभोंका आहार बनाया जाता है।'

'मन्त्रोंके मङ्गलगानसे पूजाके पश्चात् वर्षमें एक दिन हमारा चयन होता था और हमारे महत्त्वसे वह अमावस्या कुशोत्पाटिनी कही जाती थी। यज्ञवेदियों-का हम श्रृङ्गार बनते, यज्ञोपवीतकी भाँति हमारा उपवीती बनायी जाती, हमारे ऊपर तपःपूत महर्षि आसीन होते। हमारे अग्रभागसे उठे बिन्दु उनका अभिषेचन करते।' कुशकी व्यथा समझने योग्य थी। काँस उसका साथी हो गया था कष्टमें। 'हमें कण्टक

माना जाता है। हमारी जड़ोंको दानवाकार यन्त्रोंसे उखाड़ा जा रहा है। हम निर्मूल किये जा रहे हैं। हमारे बन्धु उशीरकी भी यही दशा है। उसका दुर्भाग्य इसलिये बढ़ गया है कि उसकी जड़ोंमें थोड़ी सुगन्ध और शीतलता है। उसका उच्छेद करके मानव कृत्रिम शीतलता पानेमें सफल होता जा रहा है।'

'हमें सदा ओषधि कहा जाता था। पवित्र गोमयका आहार प्राप्तकर हम परिवर्धित होते थे। क्षेत्र-पूजनके अनन्तर हमारा संग्रह किया जाता। देवराज हमारी सुरभित आहुतियोंसे तुष्ट होते और हमें वह यज्ञीय सुरभिसे पूर्ण वर्षाके जलसे पुष्ट करते। हमारा सारतत्त्व शरीरोंमें मन बनकर जब आनन्दघन प्रभुका स्मरण करता तब हम कृतार्थ हो जाते!' अन्नोंका स्वर कम करुणापूर्ण नहीं था। 'आज हमें विद्युत्के बलपर विवश किया जाता है बढ़नेके लिये। अस्थि, भस्म, क्षार, मल····छिः। हमारे लिये समस्त बीभत्स मलिन वस्तुएँ आहार बनायी जाती हैं। कटुगन्धि, तीक्ष्णजल देवराज देते हैं, अन्ततः उनके घन भी तो पाषाणी कोयलेकी गन्धसे पूरित कर दिये गये। कृत्रिम सिञ्चनका जल भी क्या 'जीवन' कहलाने योग्य है! मनुष्य कहता है कि वह रोगी होता जाता है, उसका मन विकारपूर्ण हो गया है। हममें जो गंदगी वह भरता है, वही तो पावेगा। बेचारे जीव कितनी आशासे जलकी धारासे धरामण्डलमें आकर हममें प्रवेश करते हैं। यही मर्त्यलोक मोक्षधाम है; किंतु हमारा सारतत्त्व मन विषयोंमें—पापोंमें लगा दिया जाता है। हम अपने इस दुरुपयोगका कैसे निवारण करें?'

'हमारे पुष्प कुचले जाते हैं, उनका रक्त आज इत्र कहलाता है। हमारे काष्ठ किसी आर्तका कष्ट निवारण करनेके स्थानपर चर्म रँगनेके उपयोगमें आने लगे हैं। सबसे बड़ी बात यह कि हमें नष्ट किया जा रहा है। कहीं उत्पन्न होने और जीवित रहनेकी सुविधा नहीं!' लताओं, वीरुधों, क्षुपों—सबके एक ही कष्ट हैं।

'दन्तधावनके लिये तनिक-सी टहनी लेनेसे पूर्व कितनी नम्रतासे हमसे क्षमा माँगी जाती थी। हमसे फलोंकी भिक्षा माँगते थे वे तेजोमूर्ति जो जगत्को समस्त सिद्धि देनेमें समर्थ थे। हम शिशुकी भाँति स्नेह-सिञ्चन प्राप्त करते!' तरुओंने अपने भाग्यपर अश्रु बहाये। 'आज हमपर कुल्हाड़ी बजते देर नहीं लगती। तनिक कोई डाल शिथिल हुई या मनुष्यको अनावश्यक जान पड़ी, काट दी गयी। हमारे फलोंका उपयोग, हाय!—ऐसा मनमें आता है कि फल विषैले हो जायँ और ये सब क्रूर नष्ट हो जायँ! जिन पक्षियों, कीटोंको हम स्नेहसे शरण देते हैं, जो हमें पोषण देते और प्रसन्न रखते हैं, वे भुशुण्डी और विषसे मार दिये जाते हैं। हमारी सहज जाति भ्रष्ट करके हममें वर्णसंकरता उत्पन्न की जा रही है। मनुष्य आज स्वाद और आकार देखता है, गुण नहीं। हमारे अधिकांश बन्धु नष्ट कर दिये गये, हमें स्वयं जीवित रहनेकी इच्छा नहीं।'

'भगवान् श्रीकृष्णने धरासे जैसे ही पदार्पण किया, अधर्ममूल कलिका साम्राज्य हो गया। सम्राट् जनमेजयके शासनकालतक कुछ भीत रहा वह, पर अब तो निरंकुश हो गया है!' राजाने देखा कि अभियोग उपस्थित करनेवालोंकी संख्या अपार है। यदि एक-एक वर्गके प्रतिनिधिको भी बोलने दिया जाय तो वर्षों लगेंगे। उन्होंने उपसंहार करना चाहा। 'मैंने महाराज विक्रमके साथ ही पृथ्वी छोड़ दी। मेरे प्रतिनिधियोंसे ही यज्ञ चलता रहा अबतक। ऐसे कृतघ्न मनुष्योंको पोषित करनेकी अपेक्षा सब लोग उन्हें मरनेके लिये छोड़ दें, यही उपयुक्त होगा।'

'वेनके अत्याचारके समय धरित्रीने हमें अपने अङ्कमें शरण दी।' वनस्पतियोंने कठिनाई निवेदित की। 'आप महान् हैं। अदृश्य होना आपके लिये सरल है।

आत्महत्या तो पाप है, फिर हम स्थूल जगत्को कैसे छोड़ सकते हैं ?'

'मैं भगवती धरासे प्रार्थना करूँगा !' राजाने आश्वासन दिया।

[२]

'मैंने मनुष्यको सदा पद्मरत्न और धातुएँ दीं और इसीसे वह मुझे रत्नगर्भा कहता आया। हिमोज्ज्वल गौके नेत्र आँसुओंसे भीग गये। 'अब वह मेरी स्नायुओंका रस निकालता है, कच्ची धातुएँ खोदता है, मेरी जीवनी शक्तिका शोषण कर रहा है। उसके लिये यह कोयला, मिट्टीका तेल, धातुएँ अभिशाप बन रही हैं। मेरी शक्ति नष्ट हो रही है। मेरे शिशु दुर्बल, क्षीण हो रहे हैं। मैं उनका पालन करनेमें असमर्थ हूँ।' श्रुति जिनको क्षमाकी प्रतिमा कहती है, उन जगद्धात्रीमें रोष नहीं, शोक ही था। अपनी ही सन्तानोंसे रुष्ट तो वे कैसे होंगी।

'देवता उपोषित हैं, रुष्ट हैं। हमारी प्रजा विकृत हो रही है। वह नष्ट होनेके समीप है।' वनस्पतिराज सोम बड़ी आशासे आये थे।

'स्वयं मुझे अभिवादन एवं आहुतियोंके स्थानपर निरन्तर आघात मिल रहे हैं !' वसुन्धराने उसी खिन्न स्वरमें कहा—'मेरे चर्ममें घृणित क्षार, ज्वलनशील तत्त्व सम्मिलित करके उत्पादन बढ़ानेका यह अन्ध यत्न आप देखते ही हैं। मेरी व्यथाकी मुझे चिन्ता नहीं, पर त्वचा बंजर होती जा रही है। यह अतिरिक्त उत्पादन अपनी जड़ काट रहा है। उर्वी अब उर्वरा रहे कैसे, ये पदार्थ मेरे त्वक्‌की चेतनाको मृत कर रहे हैं। मनुष्य कृमिकी भाँति क्षुधाकुल होकर मरेंगे। मैं रक्षा नहीं कर सकती। अभी ही इन विकृत उत्पादनोंसे वह रोग एवं शोक पा रहा है। उसे मेरा दुग्ध नहीं, रक्त चाहिये।'

'आप ही समस्त प्राणियोंको धारण करती हैं।' सोमके स्वरमें क्रोध था।

'यह ठीक है कि जब मैं संतप्त होकर निःश्वास लेती हूँ लक्ष-लक्ष प्राणी कालकवलित हो जाते हैं।' भूकम्पका यह दैवी कारण यन्त्र आज चाहकर भी नहीं समझ सकते। 'बड़ा कष्ट होता है मुझे; किंतु जब उत्पीड़नकी सीमा होती है, सहज अङ्ग-कम्पको कैसे रोका जा सकता है !'

'उसे रोकनेकी नहीं, भली प्रकार हिला देनेकी आवश्यकता है।'

'बेचारे नन्हे प्राणी !' भूमिने निःश्वास लिया 'तुम सोचते हो कि मैं उनका धारण करती हूँ। अब तो मानव भी जान गया है कि मेरे प्रभावक्षेत्रसे बाहर यदि वह अपने कृत्रिम विमानोंसे निकल जाय तो वहाँ फेंकी हुई वस्तु जहाँ-की-तहाँ पड़ी रहेगी। वहाँ पदार्थ-में जो गति होगी, वह बनी रहेगी, जबतक कोई ग्रह उसे प्रभावित न करे।'

'मनुष्य वहाँ निवास नहीं बना सकता !' प्रतिवाद किया सोमने ! 'उसे रहना आपकी ही गोदमें है, चाहे वह कितना भी ऊपर उड़े। इतना शक्तिशाली वह नहीं हो सकता कि स्वयं अपना धारण कर ले और आपकी उपेक्षा कर दे ! आप ही कुछ न करें तो बात दूसरी है।'

'बेनके शासनकालमें मैंने तुम्हारी प्रजाको शरण दी, इसीसे तुम मुझसे आशा करते हो।' बात ठीक ही थी। 'तुम भूलते हो कि मैं प्राणियोंका धारण करती हूँ। मैं भी यही समझती थी पर भगवान् पृथुने मेरा भ्रम दूर कर दिया !' अपने पिताके स्मरणसे पृथ्वीके नेत्र श्रद्धापूर्ण हो गये।

'वह सत्ययुगकी बात थी !' सोमका सन्तोष हुआ नहीं।

'उन्होंने कहा था कि वे स्वतः अपने प्रभावसे लोकोंका धारण करनेमें समर्थ हैं !' धरित्रीने सोम-की बात सुनी ही नहीं। वे ध्यानमग्न बोल रही थीं—

'निराधार जलनिधिके वक्षपर शेष होकर वे मेरा धारण करते हैं, शून्य गगनमें मैं उन्हींकी गोदमें उन्हींकी शक्तिसे स्थित हूँ। उन्हींका ओज मेरे कण-कणमें आकर्षण बना है। वही अपने ओजसे समस्त प्राणियों-का धारण करते हैं। यह तो उनका अनुग्रह है कि मुझे उन्होंने निमित्त बना लिया है। आकर्षणके स्वरूप वे मेरे नाथ!' पता नहीं धराको भगवान् श्वेतवाराहकी चन्द्रधवल दन्तकोटि स्मरण आयी या द्वापरके अन्तका वह श्रीकृष्णचन्द्रका कोमल पाद-स्पर्श, उनका रोम-रोम खड़ा हो गया। आनन्दपुलक था यह। अन्तरके आह्लादमें व्यथा विस्मृत हो गयी थी।

'मैं निराश ही जाऊँ?' वनस्पतियोंके सार्वभौम सम्राट्ने कुछ देर प्रतीक्षाके पश्चात् खिन्न स्वरमें पूछा।

'मैंने दीप्त रत्नोंको अन्तर्हित कर दिया! कोई स्वतःप्रकाश रत्न मनुष्यको उपलब्ध नहीं। संजीवनी-जैसी दिव्यौषधियाँ भी मेरे अङ्कमें सो गयीं' कुछ क्षण पश्चात् धराने कहा। 'बीजोंका सर्वथा तिरोभाव मेरे लिये शक्य नहीं। वे मेरे पिताकी पावन स्मृति हैं! उन्होंने अपने अरुण कोमल हाथोंसे मुझसे इनका दोहन किया। उनकी आज्ञाका अतिवर्तन करना अपमान है उनका।'

'बीजोंको तो मनुष्य स्वयं नष्ट कर देगा।' सोमने मन्तव्य स्पष्ट किया। 'वह मूल बीजोंको मिश्रित करके शक्तिहीन कर रहा है। उसके कलमी तरुओं एवं नवीन पौधोंके बीज अपनी सन्तति स्थिर करनेमें असमर्थ हैं। इस विकृतको आप पोषित न करें—बस।'

'मूर्ख मानव सचमुच अपना सर्वनाश कर रहा है। उसने ओषधि-बीजका तथ्य ही विकृत कर डाला।' खेद था धराके स्वरमें 'पर सोम, वनस्पतियोंको पोषण तो वे भगवान् सोम करते हैं, जिनके तुम वनस्पति जगत्में प्रतिनिधि हो!' पोषणमें भला धरित्री क्या करें?

× × × ×

[३]

'महाराज, कल एक अतिथि हमारे यहाँ ठहरा था! आज बड़े सवेरे वह चला गया।' गृहपतिके स्वरमें वेदना थी—'तीन भैंसें, चार बैल, दो गायें, तीन बछड़े वह मेरे यहाँ छोड़ गया!' हाथीके बच्चे-से बैल, दूध देनेवाली भैंसें और निकट भविष्यमें बच्चा देनेवाली गायें क्या कोई यों छोड़ जाता है। अपने प्राणोंसे प्रिय पशुओंको किसान जब दो चिटकी भूसा नहीं दे सकता, अपने खूँटेपर बँधे-बँधे मरते कैसे देखे?

'भाई! ये तो पशु ही हैं, मैंने सुना है लोग बच्चों-को बेच रहे हैं!' संन्यासीके स्वरमें अपार करुणा थी।

'पापी पेट क्या नहीं कराता!' गृहपतिके नेत्रोंमें आँसू भी नहीं बचे हैं। 'उन बच्चोंको खरीदनेवाले भी हैं। आज भी कोठियाँ अन्नसे भरी हैं। उनके मूल्य बढ़ रहे हैं। भूखोंकी दुर्बलतासे वासना तृप्त की जा रही है, तिजोरियोंका भार बढ़ रहा है। मनुष्यका रक्त ही जब मनुष्यको चाहिये तब परमात्मा पानी क्यों दे।'

वृक्षोंकी छाल और पत्तेतक मनुष्योंके पेटमें पहुँच गये। मैदानोंमें तृणके स्थानपर धूलि उड़ रही है। कूड़े-के ढेरों, नालियों और गलियोंमें जब अन्नके एक-एक कण और फलोंके छिलकोंके एक-एक टुकड़ोंके लिये मनुष्य कुत्तोंकी भाँति झगड़ रहे हों; पक्षियों, कीड़ों और पशुओंका जीवन कैसे चले। क्षुधा सर्वभक्षिणी होती है। मानव आज भूखा है। मर रहा है।

यह तीसरा वर्ष है, चतुर्मासेके दो महीने बीत चुके। जलकी बूँदतक पृथ्वीपर नहीं पड़ी। नदियोंमें नाममात्रको जल है। ट्यूबेलके कुओंने साधारण कुओंको पहले ही सुखा दिया था, अब उनमें भी मकड़ियाँ जाले लगा रही हैं। पानी स्तरमें ही नहीं तो यन्त्र क्या करें। सरकारने अनेक योजनाएँ बनायीं—बादल आते तो हवाई जहाज ऊपर उड़कर उनपर

बहुत बड़ा हिमखण्ड डालते । पानी बरस जाता । बादल ही जो नहीं आ रहे हैं ।

'परमाणु बमके समुद्रमें अंधाधुंध प्रयोगने पृथ्वी-पर अति वृष्टि की तीन वर्षोंतक और यह उसकी प्रतिक्रिया है । संन्यासीने कुछ गम्भीर होकर बताया 'थोड़े बहुत बादल उठते हैं तो तटके देश उन्हें बरसा लेते हैं कृत्रिम उपायोंसे । मनुष्य प्रकृतिके साथ बल-प्रयोग कर रहा है और वह बदला ले रही है !'

'मेरे गलेमें ये इतने प्राणियोंकी हत्या और अटकी !' गृहपति जानता कि अतिथि अपने पशु छोड़ जायगा तो उसे ठहरानेकी उदारता न दिखलाता । अपने ही प्राणोंके लाले पड़े हैं, इनको क्या खिलाये वह । 'आप संत हैं, प्रभु आपकी प्रार्थना सुनेंगे । हमारी वाणी स्वार्थसे इतनी कलुषित हो गयी है कि उसमें प्रार्थना प्रकट ही नहीं होती !' हृदयमें आस्था न हो तो प्रार्थना हो कैसे ।

'वे दयामय सबकी सुनते हैं !' संन्यासी स्वयं भगवान् विश्वनाथसे प्रार्थना करने ही पधारे हैं । प्राणियोंका इतना कष्ट उनसे देखा नहीं जाता । वे आशुतोष जो उनके आराध्य हैं, वही तो इसे दूर कर सकते हैं । 'आज रात्रि विश्वनाथ मन्दिरमें मेरे रहनेकी व्यवस्था कर देनी है आपको ।' पुजारियोंपर जिसका प्रभाव हो, उसीसे यह कहा जा सकता है । अकेले संन्यासीको कौन गर्भगृहमें रहने देता ।

'मेरे भगवान् सोया नहीं करते !' संन्यासीका यह समझाना पण्डोंके लिये कदाचित् ही पर्याप्त होता; किंतु उनके साथ जो गृहपति आये हैं ! आजकल यों ही मन्दिरकी आय कम हो गयी है । दर्शनार्थी थोड़ेसे आते हैं । जो आते भी हैं, जलकी धारा चढ़ाकर गाल बजा दिया और बस । बड़े-बड़े सेठ भी पुष्पोंतक ही रह जाना चाहते हैं । चढ़ावेके लिये बहुत सिर खपाना पड़ता है । ऐसे दिनोंमें एक अच्छे यजमानको रुष्ट कौन करे ।

'आप ब्राह्ममुहूर्तकी आरतीके समय निकल जायँगे न ?' एक ही आश्वासन आवश्यक था और वह मिल गया ।

'वे महात्मा कहाँ गये ?' दूसरे दिन प्रातः गृहपतिने भगवान्‌के दर्शनके अनन्तर मन्दिरमें इधर-उधर देखकर पूछा ।

'वे तो सवेरे ही चले गये !' पण्डाजीको संन्यासीसे अधिक चिन्ता यजमानकी थी । उनको कुछ विशेष दक्षिणा मिलनी चाहिये, जो प्रबन्ध उन्होंने किया था उसके बदले ।

'कदाचित् वे घर गये होंगे ।' गृहपतिने मन्दिरके द्वारकी ओर पैर बढ़ाये । 'सन्ध्याको पुनः दर्शन करूँगा ।'

'साधुको लज्जित किया हमने !' वे सोचते जा रहे थे । 'या तो वे बहाना बनावेंगे या मिलेंगे ही नहीं ।' सचमुच साधु तो उन्हें नहीं मिले; किंतु रात्रिमें बाहर सोनेके लिये उन्हें ऊपरकी छतसे बिछौना नीचेकी छतपर लाना अच्छा जान पड़ा । ऊपरकी छतपर कोई छाया नहीं थी । आकाशमें बादल न होनेपर भी ईशानकोण रह-रहकर चमक रहा था ।

× × ×

[४]

'मुझे थोड़ा शुद्ध घृत चाहिये ।' आजकल ग्रामोंमें भी मिलावट चल पड़नेसे विश्वस्त वस्तु कठिनतासे ही मिलती है ।

'लोग दाने-दानेको मर रहे हैं और आप पदार्थोंको फूँकेंगे !' आजकी विचारधाराका प्रतिनिधित्व किया गया ।

'मैं तुमसे भीख नहीं माँगता ।' संन्यासीने कुछ रोषसे कहा ।

'आपके पास पैसा भी तो हमारे ही घरोंसे पहुँचता है ।'

'डाक्टरोंकी, वैद्योंकी और स्वयं तुम्हारी फीस, जिसे मैंने चिकित्सा सिखायी, जनताका द्रव्य नहीं ! वह तो तुम्हारी निजी सम्पत्ति है । उसे तुम शराब और सिगरेट-में फूँकनेको स्वतन्त्र हो और मेरे लिये अग्निमें थोड़ा-सा हवन द्रव्य नष्ट करना हो गया । मैं अपने उपार्जन-पर स्वत्व नहीं रखता ?' घृणा हुई उन्हें अपने इस श्वेत वस्त्रधारी सुपठित चिकित्सक शिष्यसे ।

'आप संन्यासी हैं । आपको द्रव्य नहीं रखना चाहिये ।' मनुष्य जब अपनेको विश्वमें सबसे बड़ा बुद्धिमान् मान लेता है तब उसकी बेहयाई सीमातीत हो जाती है ।

'तू पहले ठीक गृहस्थ बन और तब उपदेश देना ।' वे वहाँसे उठ गये । पूर्वाश्रममें चिकित्सा करते थे । आयुर्वेदका उच्चज्ञान है । किसीको रुग्ण देखनेपर रहा नहीं जाता । ओषधियोंकी घोंट-पीस भी कर लेते हैं । एक पूरा झोला संग रहता है । कोई कुछ दे या न दे, पर जब रोगी कुछ देता हो तब न लेना उसके विश्वास-को चञ्चल करता है । इस प्रकार जो संग्रह होता है चार-पाँच महीनेपर उससे एक यज्ञ कर डालते हैं । अपना निर्वाह तो मधुकरीसे ही होता है । इसे व्यसन कहा जाय या और कुछ—पर यह है ।

'महाराज ! वर्षा कराइये ! जीवन दान दीजिये प्राणियोंको ।' गङ्गास्नानसे लौटते शास्त्रीजीकी दृष्टि पड़ गयी स्वामीजीपर । उनकी बड़ी श्रद्धा है । जो असाध्य—मरणासन्न रोगियोंको जीवन-दान करनेमें सहज समर्थ हों, वे दैवी-शक्तिसम्पन्न महापुरुष तो होंगे ही ।

'चन्द्रदेव रुष्ट हो गये हैं । रसका पृथ्वी और गगन सब कहींसे आकर्षण कर लिया उन्होंने !' भगवान् विश्वनाथ-के मन्दिरमें साधुने रात्रिमें जो तन्द्राके समय स्वप्न-सा देखा है, बड़ा अद्भुत है वह । 'आज दूध अप्राप्य है, पर भगवती भागीरथीका ब्रह्मद्रव तो उपलब्ध ही है । आप ब्राह्मणोंको एकत्र कीजिये । भगवान् शशाङ्कशेखरका सहस्राभिषेक कीजिये ।'

'महाराजका आसन ?' शास्त्रीजीके विश्वासने उल्लास दिया ।

'मेरी चिन्ता छोड़िये ! ये रुपये ले जाइये ! छोटे भाईसे कहिये कि जहाँसे मिले, घी लेकर आ जायँ और उपाध्यायजीको भेज दीजिये । वेदियाँ बनाने और पूजनादिमें समय लगेगा ।' मैं तबतक शेष सामग्री संकलित करता हूँ ।' साधुको इतनी उमंगका अनुभव कभी यज्ञमें नहीं हुआ था ।

'यज्ञ कहाँ होगा ?' ग्रामीणोंकी श्रद्धा वाक्योंका मञ्जुल प्रस्तार नहीं कर पाती ।

'आप मन्दिरमें अखण्ड धारा चढ़ाइये और मैं नन्दीश्वरके सम्मुख भगवान्के तैजस रूपको आहुतियाँ अर्पित करता हूँ !' गङ्गातटके समीप कगारपर एक छोटा-सा भगवान् शङ्करका मन्दिर है । संन्यासीका संकेत उधर ही था ।

'बिल्वपत्र तो यही हैं !' तीनों दल स्पष्ट भी नहीं हुए थे । कुछ हरे-हरे अङ्कुरमात्र थे । वृक्षोंमें पत्ते ही नहीं तो मिलें कहाँसे ।

'यही क्या कम हैं !' संन्यासी आज पदार्थोंकी बहुलतासे ऊपर है । उनके हृदयमें जो है, वह क्या इन उपकरणोंकी अपेक्षा करता है । अक्षत, धूप, दीप, घृत, नैवेद्य जो मिल सका, आया । इस छोटेसे ग्रामके लिये ऐसे दुर्दिनमें इतना एकत्र करना कैसे शक्य हुआ, यही जानना कठिन है ।

'नमः शिवाय च शिवतराय च । नमः शम्भवाय च मयस्कराय च ।'

मन्दिरमें ब्राह्मणोंका कण्ठ अखण्ड गूँज रहा था । बाहर नर-नारी खड़े 'हर हर महादेव' का नाद कर रहे थे । तीसरे पहरके अन्तमें सर्वतोभद्र, नवग्रह, कलश-पूजन समाप्त हुआ और अरणिमन्थन प्रारम्भ हो सका ।

× × ×

'नाथ, यह हो क्या रहा है ? आपने मुझे वचन दिया है !' वनस्पतियोंके राजा सोम चन्द्रदेवके सम्मुख खड़े थे । पूर्णिमाका चन्द्रबिम्ब सघन मेघोंसे पृथ्वीपर अदृश्य हो चुका था ।

'भगवान् शङ्करकी धरा एक मूर्ति है !' चन्द्रदेवने बात ढंगसे कही 'उनके विग्रहको मानव अखण्ड अभिषिक्त कर रहा है । उनके अग्नि-विग्रहको आहुतियाँ मिल रही हैं, उनके धरा-विग्रहका गगन धाराभिषेक करने जा रहा है !'

'आपने कहा था कि कृत्रिम वनस्पतियोंको पोषण न·देंगे !' सोमके स्वरमें निराशा थी ।

'सोम ! मुझमें और तुममें भी जो रसरूपसे स्थित होकर सम्पूर्ण ओषधियोंका पोषण करता है, वह सन्तुष्ट है । उसकी इच्छाके विपरीत तुम कुछ कर सकते हो ?'

'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ।' पृथ्वीपर श्रुति-पाठ चल रहा था । कौन है वह सोम ? यह तो श्रुति और उसके द्रष्टा ही जानते हैं ।

भक्त-गाथा

[भक्तिमती कुँअररानी]

कुँअररानी संभ्रान्त राजपूत माता-पिताकी एकमात्र लड़ैती सन्तान थी । सम्पन्न घर था, माता-पिता बहुत ही साधु-स्वभावके तथा भगवद्भक्त थे । कुँअररानीके अतिरिक्त उनके कोई सन्तान नहीं थी, इसलिये माता-पिताके समस्त स्नेह-सौहार्दकी पूर्ण अधिकारिणी एकमात्र कुँअररानी ही थी । वह बहुत ही प्यार-दुलारसे पाली-पोसी गयी थी । उसने जैसे माता-पिताके स्नेहको प्राप्त किया, उसी प्रकार उनकी साधुता तथा भगवद्भक्तिका भी उसके जीवनपर काफी असर हुआ । वह लड़कपनसे ही भगवान्‌के दिव्य सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूपका ध्यान किया करती और भगवान्‌का मधुर नामकीर्तन करते-करते प्रेमाश्रु बहाती हुई बेसुध हो जाती । माता-पिताने चौदह वर्षकी उम्रमें बड़े उमंग-उत्साहके साथ उसका विवाह कर दिया । कुँअररानी बिदा होकर ससुरार गयी । विधाताका विधान बड़ा विचित्र होता है । उसी रात्रिको उसके माता-पिताने भगवान्‌के पवित्र नामका कीर्तन करते हुए विषूचिका रोगसे प्राण त्याग दिये । कुँअररानीको पाँचवें दिन एक कासीदने जाकर यह दुःखप्रद समाचार सुनाया । वह उसी दिन वापस लौटनेवाली थी और माता-पिताके भेजे हुए किसी आदमीकी प्रतीक्षा कर रही थी । उसके बदले माता-पिताका मरण-संवाद लेकर कासीद आ गया । अकस्मात् मा-बापके मरणका समाचार सुनकर कुँअररानी स्तब्ध रह गयी । उसको बड़ा ही दुःख हुआ परंतु लड़कपनमें प्राप्त की हुई सत्-शिक्षाने उसे धैर्यका अवलम्बन प्राप्त करनेमें बड़ी सहायता की । उसने इस दुःखको भगवान्‌का मङ्गलविधान मानकर सहन कर लिया और पीहर जाकर माता-पिताके श्राद्धादिको भलीभाँति सम्पन्न करवाया । माता-पिताके कल्याणार्थ अधिकांश सम्पत्ति सुयोग्य पात्रोंको दान कर दी तथा शेषकी सुव्यवस्था करके वह ससुरार लौट आयी । पति सांवतसिंह बहुत ही सुशील, धर्म-परायण तथा साधु स्वभावके थे, इससे उसके मनमें सन्तोष था परंतु विधाताका विधान कुछ दूसरा ही था । छः ही महीने बाद साँप काटनेसे उनकी भी मृत्यु हो गयी । घरमें रह गये बूढ़े सास-ससुर और विधवा कुँअररानी ! कुँअररानी अभी केवल चौदह वर्षकी थी । इस भीषण वज्रपातने एक बार तो उसके हृदयको भयानकरूपसे दहला

दिया । परंतु कुछ ही समय बाद भगवत्कृपासे उसके हृदयमें खतः ही ज्ञानका प्रकाश छा गया । उस प्रकाशकी प्रभामयी किरणोंने जगत्के यथार्थ रूप, जागतिक पदार्थों और प्राणियोंकी अनित्यता, क्षणभङ्गुरता तथा दुःखरूपता; मानव-जीवनके प्रधान उद्देश्य, मनुष्यके कर्तव्य, मनुष्यको प्राप्त होनेवाले समस्त सुख-दुःखोंमें मङ्गलमय भगवान्‌की मङ्गलमयी कृपा, और भगवान्‌की शरणागति तथा भजनसे ही समस्त दुःखोंका नाश तथा नित्य परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति होती है—इन सारी चीजोंके प्रत्यक्ष दर्शन करा दिये । उसका दुःख जाता रहा । जीवनका लक्ष्य निश्चित हो गया और उसकी प्राप्तिके लिये उसे प्रकाशमय निश्चित पथकी भी प्राप्ति हो गयी ।

कुँअररानीने इस बातको भलीभाँति समझ लिया कि मनुष्यजीवनका परम और चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है । नारी हो या पुरुष—जीव मनुष्ययोनि प्राप्त करता है भगवान्‌को पानेके लिये ही; परंतु यहाँ विषय-भोगोंके भ्रमसे भासनेवाले आपातरमणीय सुखोंमें इस लक्ष्यको भूलकर विषयसेवनमें फँस जाता है और फलतः कामनाकी परवशतासे मानव-जीवनको पापोंके संग्रहमें लगाकर अधोगतिमें चला जाता है । विषय-सेवनसे आसक्ति और कामनादि दोष बढ़ते हैं और इसीलिये बुद्धिमान् विरागी पुरुष विषयोंका स्वेच्छापूर्वक त्याग करके संन्यास ग्रहण करते हैं । यद्यपि विवाह-विधान भी कामनाको संयमित करके भगवत्प्राप्तिके मार्गमें अग्रसर होनेके लिये ही है । उसका भी चरम उद्देश्य विषयोपभोगमें अनासक्त होकर भगवान्‌की ओर लगाना ही है । इसीलिये गृहस्थीको भगवान्‌का मन्दिर और पतिको भगवान् मानने तथा गृहकार्यको भगवत्सेवाके भावसे करनेका विधान है । इतना होनेपर भी सधवा स्त्रियोंको विषयसेवनकी सुविधा होनेसे उनमें विषयासक्तिका बढ़ना सम्भव है । विधवाजीवन इस दृष्टिसे सर्वथा सुरक्षित है । यह एक प्रकारसे पवित्र साधुजीवन है, जिसमें भोगजीवनकी समाप्तिके साथ ही आत्यन्तिक सुख और परमानन्दस्वरूप भगवान्‌की प्राप्ति करानेवाले आध्यात्मिक साधनोंका संयोग खतः ही प्राप्त हो जाता है । कामोपभोग तो नरकोंमें ले जानेवाला और दुःखोंकी प्राप्ति करानेवाला है । भोगोंसे आजतक किसीको भी परम शान्ति, शाश्वत सुख या भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हुई !

यह सब सोचकर कुँअररानीने मन-ही-मन कहा—मुझे यदि भोगजीवनमें ही रहना पड़ता तो पता नहीं आगे चलकर मेरी क्या दशा होती । बच्चे होते, उनमें मोह होता, मर जाते, दुःख होता, कामनाका विस्तार होता, चित्त मोहजालसे फँस जाता और दिन-रात नाना प्रकारकी चिन्ता-ज्वालाओंसे जलना पड़ता । मनको प्रपञ्चके अतिरिक्त परमात्माका चिन्तन करनेका कभी शायद ही अवकाश मिलता । भगवान्‌की मुझपर बड़ी ही कृपा है जो उन्होंने मुझको अनायास और बिना ही माँगे जीवनको सफल बनानेका सुअवसर दे दिया है । पशुकी भाँति इन्द्रिय-भोगोंमें रची-पची रहनेकी इस पवित्र जीवनसे क्या तुलना है । भगवान्‌ने मुझ डूबती हुईको उबार लिया । धन्य है उनकी कृपाको ।

उसने सोचा, मनुष्य भ्रमसे ही ऐसा मान बैठता है कि भगवान्‌ने अमुक काम बहुत बुरा किया । वास्तवमें ऐसी बात है, मङ्गलमय भगवान् जो कुछ भी करते हैं, हमारे मङ्गलके लिये ही करते हैं । समस्त जीवोंपर उनकी मङ्गलमयी कृपा सदा बरसती रहती है । उनकी मङ्गलमयता और कृपालुतापर विश्वास न होनेके कारण ही मनुष्य दुखी होता, अपने भाग्यको कोसता और भगवान्‌पर दोषारोपण करता है । फोड़ा होनेपर उसे चीर देना, विषमज्वर होनेपर चिरायते तथा नीमका कड़वा क्वाथ पिलाना और कपड़ा पुराना एवं गंदा

हो जानेपर उसे उतारकर नया पहना देना जैसे परम हितके लिये ही होता है, वैसे ही हमारे अत्यन्त प्रिय सांसारिक सुखोंका छीना जाना, नाना प्रकारके दुःखोंका प्राप्त होना और शरीरसे वियोग कर देना भी मङ्गलमय भगवान्‌के विधानसे हमारे परम हितके लिये ही होता है। हम अपनी बेसमझीसे ही उसे भयानक दुःख मानकर रोते-कलपते हैं। इन सारे दृश्योंके रूपमें, इन सभी स्वाँगोंको धारण करके नित्य नवसुन्दर, नित्य नवमधुर हमारे परम प्रियतम भगवान् ही अपनी मङ्गलमयी लीला कर रहे हैं, इस बातको हम नहीं समझते। रोने-कराहनेकी भयानक लीलाके अंदर भी वे नित्य मधुर हँसी हँस रहे हैं, इसे हम नहीं देख पाते। इसीसे बाहरसे दीखनेवाले दृश्यों और स्वाँगोंकी भीषणताको देखकर काँप उठते हैं।

दुःखके रूपमें भगवान्‌का विधान ही तो आता है और वह विधान अपने विधाता भगवान्‌से अभिन्न है। सारांश कि भगवान् ही दुःखके रूपमें प्रकट हैं। और वे इस रूपमें प्रकट हुए हैं हमारे परम कल्याणके लिये ही।

अहा! मुझपर भगवान्‌की कितनी अकारण करुणा है जो उन्होंने मेरे सारे सांसारिक झंझटोंको, विषयोंमें फँसानेवाले सब साधनोंको हटाकर मुझको सहज ही अपनी ओर खींच लिया है। मुझे आज उनकी अहैतुकी कृपासे यह स्पष्ट दीखने लगा है कि समस्त सुखोंके भण्डार एकमात्र वे श्रीभगवान् ही हैं। विषयोंमें सुख देखना और विषयभोगोंसे सुखकी आशा रखना तो जीवका महामोह या भीषण भ्रम है, आज भगवान्‌ने कृपा करके मेरे इस महामोहको मार दिया और भीषण भ्रमको भंग कर दिया है! यह क्या मुझपर उनकी कम कृपा है। वे कृपासागर हैं, कृपा ही उनका स्वभाव है, वे नित्य कृपाका ही वितरण करते हैं। धन्य है! अब तो बस मैं केवल उन्हींका चिन्तन करूँगी, उन्हींके नामको सदा रटूँगी। वृद्ध सास-ससुरके रूपमें भी उन्हींके दर्शन करूँगी। भगवान्‌का भजन ही तो मानव-जीवनका प्रधान धर्म है। जिसके जीवनमें भजन नहीं, वह तो मनुष्य-नामधारी पशु या पिशाच है। मानवताका विकास—प्रकाश और प्रसार तो भजनसे ही होता है। दिन-रात प्रभुका मधुर स्मरण करना और दिन-रातकी प्रत्येक चेष्टाका प्रभुकी पूजा तथा प्रसन्नताके लिये ही किया जाना भजन है।' इस प्रकार विवेक, विचार और निश्चय करके परम भाग्यवती कुँअररानी भगवान्‌के नित्य भजनमें लग गयी।

जो स्त्रियाँ घर और घरके पदार्थोंमें आसक्त न होकर पतिके घरको भगवान्‌का मन्दिर, पतिको भगवान् तथा घरके कार्यको भगवान्‌की सेवा मानकर जीवन निर्वाह करती हैं, उनकी बात तो अलग है; पर जो केवल विषय-सेवन तथा कामोपभोगके लिये ही पतिका सेवन करती है और कुत्ती, गदही या सूकरीकी भाँति शरीर-संयोगमें ही सुखका अनुभव करती है वह तो वस्तुतः मन्दभागिनी ही है; क्योंकि वह दुर्लभ मानव-जीवनको व्यर्थ खो ही नहीं रही है, साथ जानेवाली पापकी भारी पोट भी बाँध रही है। भगवान् शङ्करने कहा है—

उमा सुनहु ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

जो भगवान्‌को छोड़कर विषयोंमें अनुराग करते हैं, वे ही वस्तुतः अभागे हैं। कुँअररानी इस अभागेपनसे सर्वथा छूट गयी है और माता-पिता तथा पतिसे रहित होकर भी वह परम सौभाग्यको प्राप्त हो गयी है; क्योंकि उसका चित्त क्षणभङ्गुर दुःखरूप विषयोंसे विरक्त होकर नित्य सत्य सनातन परमानन्दस्वरूप प्रभुके सदा-सुखद अच्युत चरणारविन्दका चञ्चरीक बन गया। उसने जागतिक दृष्टिसे दीखनेवाले अति भयानक दुःखमें भी भगवान्‌को देखा, पहचाना और पकड़ लिया! भक्त तो कहता है—

देख दुःखका वेश धरे मैं
नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!
जहाँ दुःख वहाँ देख तुम्हें मैं
पकड़ूँगा जोरोंके साथ।

× × × ×

तुम्हरे बिना नहीं कुछ भी जब,
तब फिर मैं किस लिये डरूँ।
मृत्यु-साज सज यदि आओ
तो चरण पकड़ सानंद मरूँ॥

× × × ×

कुँअररानी वृद्ध सास-ससुरकी भगवद्भावसे सेवा करने लगी। छोटी उम्र होनेपर भी उसकी सच्ची भक्ति-भावनाका प्रताप इतना बढ़ा कि आसपासके लोग ही नहीं, गाँवभरके नर-नारी उसके परम पवित्र तथा परम तेजस्वी जीवनसे प्रभावित होकर भगवान्‌की ओर लग गये। वह उस गाँवके लोगोंके लिये मानो भवसागरसे तारनेवाली जहाज ही बन गयी।

उसकी जीवनचर्या बड़ी ही पवित्र और आदर्श थी। उसने नमक और मीठा खाना छोड़ दिया। वह सदा सादा भोजन करती। सादे सफेद कपड़े पहनती। सिरके केश मुँडवा दिये। आभूषणोंका त्याग करके तुलसीकी माला गलेमें पहन ली। मस्तकपर गोपीचन्दन-का तिलक करती। रातको काठकी चौकीपर घासकी चटाई बिछाकर सोती। जाड़के दिनोंमें एक कम्बल बिछाती और एक ओढ़ती। रात्रिको केवल चार घंटे सोती। प्रातःकाल सूर्योदयसे बहुत पहले उठकर स्नानादिसे निवृत्त हो सास-ससुरकी सेवामें लगती। मुँहसे सदा भगवान्‌का नामोच्चारण होता रहता और मनमें सदा भगवान्‌की मधुर छबिका दर्शन करती रहती। गीता, रामायण और भागवतका पाठ तथा मनन करती। दिनमें अधिकांश समय मौन रहती। नियत समयपर सास-ससुरको प्रतिदिन श्रीमद्भागवत, रामायण या गीता सुनाती तथा उनके अर्थको समझाती। उसी सत्सङ्गमें गाँवके लोग भी आते जो वहाँसे जीवनको सुख-शान्ति प्रदान करने-वाले अत्यन्त पवित्र मधुर अमृतकणोंको लेकर लौटते। जैसा उसका उपदेश होता, वैसा ही उसका जीवन भी था। तपस्या, विनय, प्रेम, सन्तोष, भगवद्भक्ति, विरक्ति एवं दैवीसम्पत्ति आदि सब मानो उसमें मूर्तिमान् होकर रहते थे। उसे देखते ही देखनेवालेके मनमें पवित्र मातृभाव तथा भगवद्भाव उदय होता। वह अपने घरका सारा काम अपने हाथों करती। घरमें कुआँ था, उससे स्वयं पानी भरती, स्वयं झाड़ू लगाती, बर्तन माँजती, कपड़े धोती, रसोई बनाती, भगवान्‌की सेवा करती और सास-ससुरकी सेवा करती। उसका जीवन सब प्रकार-से सात्त्विक और आदर्श था। इस प्रकार सास-ससुर जबतक जीवित रहे, तबतक वह पूर्ण संयमित जीवनसे घरमें रहकर उनकी सेवा करती रही। और उनके मरनेपर वह सब कुछ दान करके श्रीवृन्दावनधाममें चली गयी एवं वहाँ एक परम विरक्त संन्यासिनीकी भाँति कठोर तपस्या तथा भजनमय जीवन बिताकर अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त हो गयी!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

सुन्दर नन्दकुमार

माथे मनोहर मोर लसै पहिरे हियमें गहिरे गर हारन।
कुंडल मंडित गोल कपोल सुधासम बोल बिलोल निहारन॥
सोहत त्यों कटि पीत-पटी मन मोहत मंद महापग धारन।
सुंदर नंद-कुमारके ऊपर वारिये कोटि कुमार-कुमारिन॥

कामके पत्र

(१)

दो प्रकारके पापी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। पापी दो प्रकारके होते हैं—एक वह, जिसकी पापमें पापबुद्धि है। उसके द्वारा पापकर्म बनता है, पर वह उसके हृदयमें सदा काँटा-सा चुभता है। आदत, व्यसन, परिस्थिति और कुसङ्ग आदिके कारण समयपर वह अनियन्त्रित-सा हो जाता है और न करने योग्य कार्य कर बैठता है; परंतु पीछे उसे अपने उस दुष्कर्मके लिये बड़ी आत्मग्लानि होती है, बड़ा पश्चात्ताप होता है। ऐसी स्थितिमें वह पुनः वैसा दुष्कर्म न करनेका मन-ही-मन निश्चय करता है; परंतु अवसर आनेपर पुनः विचलित हो जाता है। अन्तमें रो-रोकर सर्वशक्तिमान् सदा सर्वत्र वर्तमान दीनैकशरण्य भगवान्‌को ही अपना एकमात्र त्राणकर्ता मानकर उनसे प्रार्थना करता है। ऐसे ही पापीके सम्बन्धमें श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वयं भगवान्‌ने घोषणा की है—

> अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
> साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
> क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
> कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
> (९। ३०-३१)

'महान् दुष्ट आचरण करनेवाला पुरुष भी यदि मुझको अनन्यभाक् होकर (अर्थात् भगवान्‌के सिवा किसी भी साधन, कर्म, योग, ज्ञान, देवता या इष्टको शरण्य और त्राणकर्ता न मानकर—केवल भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक और आश्रयदाता जानकर) भजता है, उसे साधु ही मानना चाहिये; क्योंकि उसका निश्चय सर्वथा यथार्थ है। वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा (सारे पापोंसे सर्वथा छूटकर धर्ममय) बन जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है। अर्जुन! तुम निश्चय सत्य मानो कि मेरे भक्तका (इस प्रकार एकमात्र भगवान्‌को ही परम आश्रय माननेवाले पुरुषका) पतन नहीं होता।'

दूसरे प्रकारका पापी वह है, जिसकी पापमें उपेक्षाबुद्धि है, अथवा पापासक्ति अधिक होनेके कारण जो पाप करके गौरव और गर्वका अनुभव करता है। ऐसे पापीका त्राण नहीं होता। उसका पतन अवश्यम्भावी है। इस प्रकारके पापीके लिये भगवान्‌ने कहा है—

> न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
> माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥
> (गीता ७। १५)

'जिनकी बुद्धि सर्वथा सम्मोहित हो गयी है, जिनका ज्ञान मायाके द्वारा सर्वथा हरा जा चुका है, जो आसुर-भावका आश्रय किये हुए हैं, वे नराधम पापी मनुष्य मेरा भजन नहीं करते।'

आपके मनमें यदि पापसे घृणा है, पापके लिये घोर पश्चात्ताप है तो आप पहले प्रकारमें ही आते हैं और पहले प्रकारके पापीके लिये निराशाकी कोई बात नहीं है। आप करुणावरुणालय अशरणशरण पतितपावन दीनबन्धु भगवान्‌की सहज करुणाका भरोसा करके उनका समाश्रयण कीजिये। उनकी कृपाशक्तिका ऐसा विलक्षण स्वभाव है कि जो कोई विश्वास करके एक बार उसकी ओर कातर दृष्टिसे ताक लेता है, वह तुरंत ही उसकी सब प्रकारकी सारी पाप-कालिमाओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेका सङ्कल्प कर लेती है और जहाँ कृपाशक्ति किसी आर्त्त प्राणीके आर्त्तिनाशका निश्चय करती है, वहाँ भगवान्‌की अन्यान्य समस्त शक्तियाँ उसका सहयोग देने लगती हैं। भगवान्‌की कृपाशक्ति ऐसी अमित महिमामयी है कि समस्त शक्तियाँ सहज ही उसका अनुसरण करनेमें अपनेको धन्य मानती हैं और जब भगवान्‌की ये उदार शक्तियाँ किसीके उद्धारका मनोरथ और प्रयत्न करती हैं, तब उसके उद्धारमें कौन देर लगती है?—

> जापर दीनानाथ ढरैं, सोइ सुकृती उदार सो अनुपम सोइ सुकर्म करै॥
> राम कृपा करि चितवहिं जबही। सकल दोष दुख नासहिं तबही॥
> जापर कृपा राम की होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥

भगवान् तो यह घोषणा ही कर चुके हैं कि वह पापात्मासे बदलकर 'क्षिप्रं' (तुरंत—चुटकी मारते-मारते) धर्मात्मा हो जाता है। उसका पतन तो हो ही नहीं सकता।

ऐसी अवस्थामें आपको न तो पापोंके लिये चिन्तित होना चाहिये और न पापकी प्रबल शक्तिसे डरना ही चाहिये। पापमें शक्ति ही कितनी है जो समस्त भगवच्छक्ति-चूडामणि महान् उदार कृपाशक्तिके सामने क्षणभर भी ठहर सके। जैसे सूर्योदयकी अरुणिमाका उदय होते ही अमावस्याका घोर अन्धकार नाश होने लगता है और सूर्योदय होनेपर सूर्यके सामने तो उसका कहीं पता ही नहीं लगता—क्षणमात्रमें ही उसका क्षय हो जाता है। इसी प्रकार

भगवान्‌की कृपाशक्तिका प्रकाश होते ही पापान्धकारका समूल नाश हो जाता है। बस, शर्त यही है, मनुष्य अनन्य विश्वासके साथ कृपापारावार भगवान्‌की कृपाशक्तिका आश्रय ग्रहण कर ले।

अतएव आप श्रीभगवान्‌की कृपाका भरोसा करके उनकी शरण हो जाइये और मनमें यह निश्चय कीजिये कि उनकी कृपाशक्तिके सामने मनमें पापकी स्फुरणाका भी उदय नहीं हो सकता। फिर पाप तो होंगे ही कहाँसे। शेष भगवत्कृपा।

(२)

दिन-रात भगवद्भजन कैसे हो ?

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपको दिनभर काममें लगे रहना पड़ता है, अवकाश बहुत कम मिलता है, इसलिये तीव्र इच्छा होनेपर भी आप अलग बैठकर भजन-ध्यानके लिये समय नहीं निकाल सकते। काम करते हुए ही भजनका कोई तरीका जानना चाहते हैं—सो बहुत अच्छी बात है। मेरी समझसे ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिये कि आपको समय मिलता ही न हो। शौच, स्नान, भोजन, शयन आदिके लिये समय किसी तरह आप निकालते ही होंगे। वैसे ही आप चाहें तो भजनके लिये भी कुछ समय निकाल सकते हैं। जो कार्य अत्यन्त आवश्यक होता है, जिस कार्यके प्रति मनमें आकर्षण होता है तथा जिसके लिये तीव्र इच्छा होती है, उसके लिये समय मिल ही जाता है। आप प्रयत्न करके देखें, आपकी लगन, रुचि तथा मनमें आवश्यकताकी भावना होगी तो आसानीसे समय मिल जायगा। फिर श्रीमद्भगवद्गीता-में श्रीभगवान्‌ने एक ऐसा तरीका बतलाया है कि जिससे यदि मनुष्य चाहे तो प्रतिक्षण भगवान्‌का भजन-पूजन बड़ी सुगमताके साथ कर सकता है। भगवान् कहते हैं—

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
> (गीता १८। ४६)

'जिन परमात्मासे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति हुई है और जिनके द्वारा यह सर्व जगत् व्याप्त है, उन परमात्माको अपने सहज कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको (मानव-जीवन-की परम और चरम सफलताको) प्राप्त हो जाता है।'

भगवान्‌के इस आदेशके अनुसार मनुष्य चाहे जहाँ, चाहे जब, अपने ही द्वारा किये जानेवाले उसी समयके कर्मों-के द्वारा भगवान्‌का भजन-पूजन कर सकता है।

इसमें किसी स्थान-विशेष, समय-विशेष, स्थिति-विशेष और उपचार-विशेषकी आवश्यकता नहीं है। किसी भी वर्णाश्रमका मनुष्य, किसी भी स्थानमें, किसी भी स्थितिमें सर्वत्र-स्थित भगवान्‌का पूजन कर सकता है। इस पूजनमें गन्ध-पुष्प, धूप-दीप आदिकी भी आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्यके लिये जो शास्त्रीय कर्म विहित है, उसीके द्वारा वह भगवान्‌की पूजा कर सकता है। बस, मनका भाव यह होना चाहिये कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ, सर्वव्यापी और सर्वाधार भगवान्‌की पूजा ही कर रहा हूँ। फिर सोना-जागना, खाना-पीना, जाना-आना, व्यापार-व्यवसाय करना, यहाँतक कि शरीर-शुद्धितकके सभी कर्म भगवान्‌की पूजाके उपकरण बन जायँगे। आप इस प्रकारसे हर समय भगवान्‌की पूजा कर सकते हैं। जिसको भी देखें, जिससे भी बात करें, मन-ही-मन यह निश्चय कर लें कि इस रूपमें भगवान् ही आपके सामने स्थित हैं। तदनन्तर उन्हें मन-ही-मन प्रणाम करके उस समयके लिये उसके साथ जिस प्रकारका व्यवहार-बर्ताव करना शास्त्रदृष्टिसे विहित हो, उसी प्रकारके व्यवहार-बर्तावद्वारा उनकी पूजा करें। फिर, आप अलग समय निकालकर भजन-पूजन न भी कर सकेंगे तो भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकारसे भगवान्‌का भजन-पूजन करने लगनेपर आपके समस्त कर्म स्वाभाविक ही भगवदर्पण हो जायँगे और आपके चित्तमें सदा सहज ही भगवान्‌की स्मृति भी बनी रहेगी। भगवदर्पण कर्मोंका और भगवान्‌की नित्य स्मृतिका फल तो भगवत्-प्राप्ति है ही। भगवान् कहते हैं—

> यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
> शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
> संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
> (गीता ९। २७-२८)

'अर्जुन! तुम जो कुछ भी कर्म करते हो—खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तप करते हो, सब मेरे अर्पण कर दो। इस प्रकार, जिसमें समस्त (लौकिक, पारलौकिक, पारमार्थिक आदि) कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पण होते हैं, ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाले तुम शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे और उनसे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होओगे।'

> तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
> (गीता ८। ७)

'अतएव तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मुझमें अर्पित मन-बुद्धिसे युक्त होकर तुम निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे।'

इस प्रकार मनुष्य भगवत्-स्मरण तथा भगवदर्पण-बुद्धिसे किये जानेवाले विहित कर्मोंके द्वारा भगवान्‌की पूजा करता हुआ अनायास ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकता है। और इस प्रकार सभी लोग कर सकते हैं। पर इसके साथ ही, कुछ समय प्रतिदिन अलग भी भगवान्‌का भजन-पूजन किया जाय तो उससे जल्दी लाभ होता है और वह सहज भी है। यह सत्य है कि पूरा भजन तो वही है जो आठों पहर विना विरामके और प्रत्येक कर्मके द्वारा ही होता रहता है। पर ऐसे भजनमें प्रवृत्ति हो, इसके लिये भी नित्य नियमपूर्वक कुछ समयतक अलग बैठकर भजन करनेकी आवश्यकता है। मेरी समझसे आप यदि थोड़ी भी चेष्टा करेंगे तो आपको समय मिल ही जायगा।

यह याद रखना चाहिये कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्प्राप्ति है और एकमात्र कर्तव्य भगवद्भजन है। चाहे जैसे भी हो, अपनी-अपनी रुचि तथा अधिकारके अनुसार यह अवश्य करना ही चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(३)

श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम-तत्त्व हैं

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। गीताके पुरुषोत्तम-तत्त्वके सम्बन्धमें पूछा, सो वस्तुतः इस तत्त्वका यथार्थ ज्ञान तो भगवान् व्यासको ही है, जिन्होंने इसका उल्लेख किया है। मैं तो अपने विचारकी बात लिख सकता हूँ और अपनी समझ तथा दृष्टिकोणसे मुझे इस मान्यतामें पूर्ण विश्वास है। मेरी समझसे गीताके श्रीकृष्ण ही पुरुषोत्तम हैं। यही समग्र ब्रह्म हैं। ये क्षरसे अतीत हैं, अक्षरसे उत्तम हैं और सर्वगुह्यतम परम तत्त्व हैं। ये ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हैं। इनमें एक ही साथ परस्परविरोधी धर्मोंका प्रकाश है। ये निर्गुण हैं और अचिन्त्यानन्त कल्याणगुणगण-स्वरूप हैं; ये सर्वेन्द्रियविवर्जित हैं और सर्वेन्द्रियगुणाभास हैं। ये कर्तृत्वहीन हैं और सर्वकर्ता हैं; ये अजन्मा हैं और जन्म धारण करते हैं; ये सबसे परे हैं और सदा सबमें व्याप्त हैं; ये सर्वथा असङ्ग हैं और नित्य प्रेम-परवश हैं। यही अर्जुनके सखा हैं, सारथि हैं, गुरु हैं और भगवान् हैं। ये निर्गुण, निरञ्जन, निष्क्रिय, निष्कल, निरवद्य, अनिर्देश्य, अचल, कूटस्थ, अव्यक्त तत्त्व हैं और ये ही दिव्य सौन्दर्य-माधुर्य-सुधा-सार-समुद्र, नित्य नटवर, श्यामसुन्दर हैं एवं ये ही गति, भर्ता, भोक्ता, प्रभु, साक्षी, शरण, सुहृद्, माता, पिता, धाता, पितामह, उपद्रष्टा, अनुमन्ता, परमात्मा और महेश्वर हैं। गीतामें जहाँ-जहाँ अहं, मम, मे, माम्, मत्तः, मया पद आये हैं, सब इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके लिये ही आये हैं। यह श्रीकृष्णतत्त्व ही गीताका प्रतिपाद्य है और इसीकी शरणागतिका चरम उपदेश गीतामें दिया गया है। यही गीताकी सर्वगुह्यतम शिक्षा है।

(४)

खर्च घटनेका उपाय—सादगी

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आजकल हमलोगोंके खर्च बहुत बढ़ गये हैं—यह सत्य है। इसका कारण महँगी तो है ही। साथ ही हमारी रहन-सहनकी खर्चीली पद्धति भी है। रहन-सहनका स्टेण्डर्ड (स्तर) ऊँचा करनेकी चर्चा इधर बहुत जोरोंसे चल रही थी। इस स्तरकी उच्चताने इतना अधिक व्यर्थ खर्च बढ़ा दिया है कि जिसकी पूर्ति अब बहुत कठिन हो गयी है। अभाव जितना बढ़ाइये, उतना ही बढ़ता रहेगा। कामनाका अन्त कहाँ है। और जितनी ही कामना बढ़ेगी, उतना ही अनाचार, भ्रष्टाचार और पाप बढ़ेगा—यह प्रत्यक्ष है। भगवान्‌ने गीतामें भी इस कामनाको ही महाशन (भोगोंसे कभी तृप्त न होनेवाला), महापापी और मनुष्यका शत्रु बतलाया है। 'महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।' (३। ३७) और पापका फल दुःख होगा ही। एक युग था, जब यहाँके निवासी कहते थे—

> स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनापि प्रपूर्यते।
> अस्य दग्धोदरस्यार्थे कः कुर्यात् पातकं महत्॥

'वनमें उत्पन्न होनेवाले शाक आदिके द्वारा ही जब पेट भर जाता है, तब इस पेटके लिये कोई महान् पाप क्यों करेंगे।' आज यह सपनेकी-सी बात हो गयी है।

आज तो हमारा पेट इतना बढ़ गया है कि वह किसी भी हालतमें भरता ही नहीं। कामनाकी भूखका क्या ठिकाना। इसीसे आज प्रत्येक व्यक्ति अर्थ और अधिकारके पीछे पागल है।

खान-पानमें अपनी देशप्रथाके अनुसार पहले जो कुछ होता था, उसमें एक संयम था। अब देशके बड़े-बड़े अग्रणी पुरुष भी अंगरेजी पढ़-लिखकर ब्रेक-फास्ट (प्रातःकालीन भोजन), लंच (मध्यकालीन भोजन), टिफिन (मध्याह्नोत्तर ब्याल), डिनर (रात्रिभोजन)। करते हैं। इसके सिवा, बेड् टी (बिस्तरकी चाय) से लेकर रात्रितक कई बार

बिस्कुटसहित चाय अलग ली जाती है। फल और सूखा मेवा अलग। अब बतलाइये, भोजनखर्च क्यों न बढ़े।

गाँवोंमें पहले लोग धोती पहनते और बदनपर एक गमछा या चादर डाल लेते थे। धूप, वर्षा, सर्दी आदि सहनेका इसीसे उनको अभ्यास था और इसीसे वे प्रायः नीरोग भी रहते थे। अब ग्रामवासी लोग भी पढ़ लिखकर वेश-भूषा सजाने लगे। गरमीकी मौसिममें भी पैरोंमें मोजे, पतलून या चूड़ीदार पाजामा, बदनपर तीन-चार कपड़े, कोट, लम्बी शेरवानी आदि आ गये हैं। इन कपड़ोंकी सिलाईमें सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते हैं। बच्चोंको यूरोपियन ढंगकी घघरी, फ्राक, कोट आदि पहनाये जाते हैं। स्त्रियोंके फैशनका तो कोई ठिकाना ही नहीं। तब बताइये, खर्च कैसे नहीं बढ़ेगा ? खर्च तो तब घटेगा, जब इतनी वस्तुओंका व्यवहार नहीं किया जायगा और इसके लिये—जिनकी साधारण लोग नकल करते हैं, उन बड़े लोगों, नेताओं, सरकारी अफसरों आदिका सादे भोजन और सादे पोशाकवाले होना आवश्यक है।

मुसल्मानी जमानेमें पाजामा, अचकन, शेरवानी आदि हमारी पोशाकमें आये। अंग्रेजोंके सङ्गसे पतलून, कोट, हैट आदि आये; परन्तु अब स्वराज्य मिलनेपर भी हमारा यह विदेशी मोह नहीं छूटा है—यह खेदकी बात है। महात्मा गाँधी लन्दनमें बादशाहसे नंगे बदन, नंगे पैर, छोटी-सी धोती पहने, चादर ओढ़े मिले थे। यदि आज हमारी सरकार यह घोषणा कर दे कि राष्ट्रिय पोशाक धोती और चद्दर है। और यदि बड़े बड़े मिनिस्टर, न्यायाधीश, जिलाधीश, विद्यालयों-महाविद्यालयोंके अधिपति, आचार्य, नेतागण, प्रमुख व्यापारीवर्ग इसी पोशाकमें अपने-अपने कार्यालयों, कचहरियों, विद्यालयों और दूकानोंपर उपस्थित होने लगें तो इनकी देखा-देखी बहुत शीघ्र जनता उसीके अनुसार धोती, चादरका व्यवहार करने लगे। कपड़ेका खर्च अपने-आप कम हो जाय। यह सच है कि मनुष्योंकी संख्या बढ़ी है; परन्तु साथ ही उत्पादन भी तो बढ़ा है। ज्यादा अभाव तो हुआ है कल्पित अभावोंको बढ़ा लेनेसे—उच्चस्तरके जीवनके नामपर अधिकाधिक वस्तुओंके व्यवहार और संग्रहसे।

पहले धार्मिक भावनासे नर नारी व्रत-उपवासादि करते थे। उससे भी बहुत अन्न बच जाता था। साथ ही संयम तथा इन्द्रिय-निग्रहका पाठ भी सीखते थे। अब तो धर्मका नाम लेना भी अपराध-सा हो चला है। खर्च घटाना चाहते हैं, पर जीवनको निरङ्कुश, उच्छृङ्खल, वासनाओंका दास, विलासी और कल्पित अभावोंसे पूर्ण बना रहे हैं। विवाह आदिमें विभिन्न प्रकारके आडम्बर बढ़ रहे हैं; तब खर्च घटेगा कैसे। और खर्च न घटनेपर चोरी, डकैती, घूसखोरी, चोरबाजारी होगी ही। इन दोषोंको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम तो आवश्यक है—ईश्वर, परलोक तथा धर्ममें विश्वास। जब एकान्तमें भी मनुष्य चोरी करना, दूसरेका पैसा लेना अधर्म समझेगा, तब आजकी तरह उसकी केवल कानूनके पंजेसे बचकर पाप करनेकी प्रवृत्ति नहीं होगी। तभी ये अनर्थ बंद होंगे। साथ ही कल्पित अभावों तथा उच्च स्तरके (खर्चीले) जीवनसे भी अपनेको दूर रखना पड़ेगा। कामोपभोगपरायण मनुष्य तो अन्यायसे अर्थसञ्चय करेगा ही। जीवनमें जितने ही अभाव कम होंगे, जितनी ही आवश्यकताएँ थोड़ी होंगी, उतना ही जीवन निष्पाप रहेगा और उतनी ही सुख-शान्ति भी रहेगी।

समाजसे इस पापको दूर करना है तो समाजके प्रमुख पुरुषोंको, शासनाधिकारियोंको और नेताओंको अपना जीवन बदलना पड़ेगा। तभी यह पाप मिटेगा। परोपदेशसे तथा कानूनी कड़ाईसे कुछ नहीं होगा। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ (समाजमें प्रमुख माने जानेवाला) व्यक्ति जो-जो आचरण करता है, साधारण लोग उसीका अनुकरण करते हैं, वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, जैसा आदर्श उपस्थित करता है, उसीके अनुसार लोग वर्तते हैं।

(५)

भगवान्‌का मङ्गलविधान

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। सचमुच इस समय भारतवर्षकी स्थिति बहुत शोचनीय है। हमारे समाज-जीवनका जिस प्रकारका नैतिक पतन हुआ है, उसे देखकर बड़ी चिन्ता होती है। इसका परिणाम अच्छा तो कैसे होगा; पर घबड़ानेकी बात नहीं है। अमावस्याके बाद ही शुक्ल पक्षका प्रारम्भ हुआ करता है। हमारे दुःख जब बहुत अधिक बढ़ जायँगे, तब हमें चेत होगा। भगवान्‌का विधान मङ्गलमय होता है। वे जीव-जगत्‌की भलीभाँति परिशुद्धि करनेके लिये ही विपत्तिरूपी औषधका प्रयोग किया करते हैं। जो कुछ करते हैं सर्वथा निर्भ्रान्त होकर निश्चित कल्याणके लिये ही। असलमें तो इस समय जो कुछ सङ्कट हमपर या तमाम विश्वपर आये

हुए हैं, वे सभी उनके मङ्गलमय विधानके ही अङ्ग हैं—जो पहलेसे सुनिश्चित हैं। हमारा कर्तव्य है कि इन दुःखों और विपत्तियोंमें भगवान्‌का मङ्गलमय हाथ देखकर हम इनका स्वागत करें एवं अपने विश्वास, श्रद्धा, प्रभु-शरणागतिसे तथा प्रभुके हाथके यन्त्र बनकर इन्हें सुख और सम्पत्तियोंके रूपमें परिणत कर दें। ऐसा हम कर सकते हैं—यदि प्रभुकी शरण होकर उनके विधानके रूपमें इनको सिर चढ़ायें। साथ ही अपने जीवनको प्रभुके सर्वथा अनुकूल बना लेना होगा। हमारी प्रत्येक चेष्टा प्रभुके मङ्गलकार्यका एक सुन्दर अङ्ग बन जाय। प्रतिकूल वस्तु या भाव हममें रहे ही नहीं। हम अपने अलग अस्तित्वको भूलकर प्रभुके ही चरणरजके एक कण बन जायँ, जिससे कि सदा चरणतलसे चिपटे रहकर निरन्तर उनके चरण-स्पर्शका सुखानुभव करते रहें। शेष भगवत्कृपा।

(६)
भगवद्दर्शनके साधन

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। उत्तरमें निवेदन है कि भगवान्‌की प्राप्तिके अनेकों मार्ग हैं और अधिकारी-भेदसे सभी ठीक हैं। ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग—सभी अपने-अपने स्थानमें महत्त्व रखते हैं। इनमेंसे किसी एकको मुख्य रूपमें स्वीकार करके साधक अपना मार्ग निश्चित करता है। फिर इन ज्ञान, भक्ति, योग आदिके भी विभिन्न स्वरूप तथा स्तर हैं। एक मार्गसे यदि सफलता नहीं मिलती तो यह समझना चाहिये कि या तो उस मार्ग-पर वह साधक भलीभाँति चल नहीं पाया अथवा वह उस मार्गका अधिकारी नहीं है। परन्तु एक मार्गपर चलना आरम्भ करके उसे सहसा छोड़ना या बदलना नहीं चाहिये। सावधानीके साथ पता लगाना चाहिये—कहाँपर त्रुटि है। जहाँ त्रुटि मिले, वहीं उसकी पूर्तिका प्रयत्न करना चाहिये। साधक यदि लौकिक पदार्थोंकी कामनावाला नहीं है, वह शुद्ध हृदयसे एकमात्र भगवत्प्राप्ति या अपने इष्टस्वरूप भगवान्‌का साक्षात्कार चाहता है तो उसके मार्गकी कठिनाइयोंको भगवान् स्वयं दूर करेंगे, वे ही उसके मार्ग-दर्शक बनेंगे और वे ही उसके लिये पाथेय, प्रकाश और साथीकी व्यवस्था करेंगे। आप अपनेको उनपर छोड़ दीजिये, अपनी जीवन-चर्याको सर्वथा उनके अर्पण कर दीजिये। फिर वे आप ही सम्हालेंगे। भगवान्‌ने स्वयं गीतामें कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥
(९। २२)

'जो अनन्य (एकमात्र मेरे ही शरणापन्न होकर मुझपर ही श्रद्धा, विश्वास, आशा-भरोसा रखनेवाले) मेरे जन निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए (मेरे लिये ही) मेरी उपासना करते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंके योग-क्षेमका मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् उनके प्राप्त साधन-की रक्षा—क्षेम मैं स्वयं करता हूँ और जो कुछ उन्हें प्राप्त करना है, उसका योग—प्राप्ति भी मैं स्वयं करा देता हूँ।'

हमें तो बस, यही करना है कि हम उनपर निर्भर करना सीख लें। अपना सब कुछ उन्हें सौंपकर उनके हाथकी कठपुतली बन जायँ। वे जब करें, जो करें, जैसे करें,—उसीमें हमें आनन्दका अनुभव हो। ऐसा होनेपर उनके दर्शन बहुत शीघ्र होते हैं।

उनके दर्शनका दूसरा साधन है—आत्यन्तिक उत्कण्ठा। जिसे 'अनिवार्य आवश्यकता' भी कह सकते हैं, जैसी प्यासको जलकी होती है। हमारी भगवत्-मिलनकी इच्छा जब वैसी आवश्यकतामें परिणत हो जायगी, तब उसकी पूर्ति बिना विलम्ब होगी।

आप जो साधना कर रहे हैं, वह ठीक है। उसे श्रद्धा-पूर्वक करते जाइये। मनमें कभी अविश्वासको स्थान न दीजिये। न ऊबिये ही। धैर्यके साथ लगे रहिये। जो अधीरता भगवान्‌के मिलनकी आवश्यकता पैदा करती है, वह तो बहुत श्रेष्ठ है; परंतु जो अधीरता साधनमें शिथिलता लाती है, उससे सदा बचना चाहिये। वह तो साधनका विघ्न है।

'लागी रहु रे भाइया तेरी बनत-बनत बनि जाय।'

शेष भगवत्कृपा।

(७)
भगवान् शङ्कर और श्रीकृष्ण एक ही हैं

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपके गुरुदेव समर्थ विद्वान् हैं और चार-पाँच वर्ष पहले आप उनसे भगवान् शङ्करका मन्त्र ले चुके हैं, पर इधर दो महीनेसे आपको लगातार स्वप्नमें भगवान् श्रीशङ्करके बदले भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करनेकी प्रेरणा मिलती है और आप दुविधामें हैं कि किसकी पूजा करें। इसके उत्तरमें निवेदन है कि वस्तुतः तत्त्वदृष्टिसे भगवान् श्रीशङ्करजीमें और भगवान् श्रीकृष्णमें कोई भी अन्तर नहीं है। एक ही भगवान् दो स्वरूपोंमें प्रकट हैं। इनमेंसे किसी एकको छोटा-बड़ा मानना उचित नहीं है। यह दूसरी बात है कि साधक अपने इष्टस्वरूपमें दृढ़ और अनन्य श्रद्धा रखकर उसीको सर्वोपरि

और सर्वरूप मानकर भजता है एवं अन्यान्य सभी भगवत्-स्वरूपोंको उसीके विभिन्न रूप मानता है एवं ऐसा ही होना भी चाहिये। आपने इधर श्रीमद्भगवद्गीता, महाभारत और रामायणका अध्ययन किया है, सम्भव है, इसी कारण श्रीकृष्ण-सम्बन्धी नवीन संस्कारोंके कारण आपको वैसे स्वप्न आते हों। यह भी हो सकता है कि आपकी प्रकृति श्रीकृष्णस्वरूप-की उपासनाके अनुकूल हो और स्वयं भगवान् शङ्कर ही आपको उनकी उपासनाके लिये प्रेरित करते हों। जो कुछ भी हो, आपको भगवान् श्रीशङ्करकी उपासना छोड़नी नहीं चाहिये और मन न माने तो श्रीशङ्करजीका ही दूसरा रूप समझकर श्रीकृष्णकी उपासना भी करनी चाहिये। कुछ समय बाद अपने-आप ही ढंग ठीक बैठ जायगा। यह निश्चय मानिये कि श्रीशङ्करजीकी पूजासे श्रीकृष्णकी पूजा हो जाती है और श्रीकृष्णकी पूजासे श्रीशङ्करजीकी! श्रीशङ्करजीमें दृढ़ निष्ठा होनेके लिये आपको शिवपुराण आदि ग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहिये। शेष भगवत्कृपा।

(८)

पापसे छूटनेका उपाय

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपने लड़कपनसे लेकर अबतककी अपने जीवनकी पाप-प्रवृत्तिका हाल लिखा, उसे पढ़कर खेद हुआ। सचमुच आपकी पत्नी बड़ी साध्वी थी जो आपको इस पापसे छूटनेके लिये समझाया करती थी। जो कुछ भी हो, अब तो आपकी उम्र भी अधिक हो चुकी है। आप सच्चा पश्चात्ताप करके दीनबन्धु पतितपावन भगवान्‌की शरण ग्रहण कीजिये। उन्हींको एकमात्र शरण्य, त्राणकर्ता और आश्रयदाता मानकर उनके चरणोंपर अपनेको डाल दीजिये तथा दिन-रात अविराम भगवन्नाम-जपका अभ्यास कीजिये। भगवदाश्रय और भगवन्नामसे पापोंका समूल नाश हो जाता है, यह निश्चित है। पर यह करना तो होगा आपको ही। शेष भगवत्कृपा।

(९)

भाईसे प्रेम करें

प्रिय महोदय! सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। आपकी लिखी हुई बात आपकी दृष्टिसे ठीक ही है; परंतु आपकी दृष्टि ही बदली हुई है। द्वेषदृष्टि होनेपर सब दोषरूप हो जाता है। वरं द्वेष्य वस्तुके गुणोंमें भी दोष दीखता है और भेद तथा परायापन तो आ ही जाता है। यही कारण है कि आपलोग सगे भाई होते हुए भी पराये हो गये हैं। प्रेमका स्वभाव है अनेकको एक करना और द्वेषका स्वभाव है एकको अनेक करना। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ त्याग होगा ही। प्रेमकी भित्ति त्याग ही है। हम जिससे प्रेम करते हैं वे हमारे ही हो जाते हैं। उनका सुख ही अपना सुख होता है। अतएव उनके सुखके लिये सहज ही त्याग होता है। वहाँ छीनाझपटीका सवाल ही नहीं है। हमारा जिससे प्रेम होगा, उसके लिये हम त्याग करेंगे ही। और जहाँ स्वार्थ है वहीं त्यागका अभाव है, वहीं चोरी है, छिपावट है और छीनाझपटी है। वहीं द्वेष है और जहाँ द्वेष है वहीं दुःख है।

कलकत्तेके समीप एक वकील रहते थे। उनके घरमें एक उनकी पत्नी थी और एक छोटा भाई। छोटे भाईपर वकील साहेबका बड़ा प्रेम था; वह पढ़ता था। भाभीका भी देवरपर स्नेह था; परंतु ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे, त्यों-ही-त्यों भाभीका प्रेम घटने लगा—वह देवरके प्रति द्वेष करने लगी। द्वेष होनेपर दोष दीखते ही हैं, उसे बात-बातमें दोष दीखने लगे और वह अपने पतिसे शिकायत करने लगी। पतिने बहुत समझाया-बुझाया; परंतु उसकी समझमें बात आयी ही नहीं। अन्तमें उसने पतिसे स्पष्ट कह दिया कि 'मेरे साथ आपके भाईका निर्वाह नहीं होगा, इन्हें अलग कर दीजिये।' वकील साहेबने दूसरा उपाय न देखकर दो दस्तावेज बनाये और एक दिन पत्नीको तथा छोटे भाईको पास बैठाकर छोटे भाईसे कहा—'देखो भैया! तुम्हारी भाभीको तुम्हारे व्यवहार-बर्तावसे संतोष नहीं है। यह बँटवारा चाहती है। मैंने भी निश्चय कर लिया है कि बँटवारा कर दिया जाय; क्योंकि रोज-रोजके कलहकी अपेक्षा एक बार निपटारा हो जाना उत्तम है। मेरे पास दो चीजें हैं—एक मैं और एक मेरी जमीन-जायदाद तथा अर्थसम्पत्ति। दोनोंके दस्तावेज तैयार हैं। तुम्हारी भाभी बड़ी है, अतः उसका पहला अधिकार है। इन दोनों चीजोंमेंसे जिस एकको वह पसंद करे, निःसंकोच प्रसन्नतासे ले ले। उसके ले लेनेपर जो चीज बचेगी वह तुम्हारे हिस्सेमें आ जायगी।' वकील साहेबकी बात सुनकर उनकी पत्नी बड़े सोचमें पड़ गयी। कुछ देर चुप रही। फिर सोच-साचकर उसने कहा—'मुझे तो जमीन-जायदाद और अर्थसम्पत्ति चाहिये।' वकील साहेबने बड़ी प्रसन्नतासे दस्तावेज निकाला। पढ़कर सुनाया, स्वयं हस्ताक्षर किये, छोटे भाईसे कराये और पत्नीसे कराये। फिर उसकी एक-एक प्रति दोनोंको दे दी। तदनन्तर भाईसे

कहा—'चलो, हमलोग अन्यत्र रहेंगे।' दोनों भाई जो एक-एक धोती कुर्ता पहने थे, वैसे-के-वैसे ही उठकर वहाँसे चल दिये। वकील साहबकी पत्नी कुछ भी बोल नहीं सकी। बोलती भी कैसे। देवरने जरूर भाभीकी चरणधूलि लेनेकी चेष्टा की। पर उसने पैर हटा लिया। पति-वियोगका तो उसे दुःख हुआ, पर देवरके हट जानेसे उसने मानो सुखकी साँस ली। अब वह कुछ कर्मचारियोंको रखकर जमीन-जायदादकी सम्हाल कराने लगी। कुछ दिन तो काम चला तथा देवरको हटा देनेका सन्तोष भी मनमें रहा। पर धीरे-धीरे काम बिगड़ने लगा। कर्मचारियोंने मनमानी आरम्भ की। खर्च बढ़ गया। आय प्रायः बंद हो गयी। मामले-मुकद्दमे भी लग गये। सालभर भी नहीं बीता कि वह सर्वथा ऊब गयी और पतिके पास जाकर उसने घर लौटनेकी प्रार्थना की।

वकील साहब नामी वकील थे, उन्होंने घरसे निकलकर दूसरी जगह मकान भाड़े ले लिया। रसोइया-नौकर रख लिये। काम तो उनका चल ही रहा था। छोटा भाई सुयोग्य तो था ही। उसके हृदयपर भाईके बर्तावकी अमिट छाप पड़ गयी थी। वह भी घरकी सँभाल और काम-काजमें पूरी सहायता करने लगा था। दोनों सुखसे रहने लगे थे।

जब पत्नीने आकर प्रार्थना की और कहा कि 'मेरा अपराध क्षमा करें। देवरको मैं पुत्रकी भाँति पालूँगी। मेरी बुद्धि मारी गयी थी जिससे मैंने उस निरपराधको सताया और यहाँतक काण्ड किया। अब मैं अपनी भूल समझ गयी। आप तथा देवरजी मुझे क्षमा करें।' यों कहते-कहते उसकी आँखोंमें आँसू आ गये और वह फुफकार मारकर रोने लगी। भाभीको रोते देखकर देवरने उसके चरण पकड़ लिये और भाईसे घर चलनेका अनुरोध किया। वकील साहबके मनमें द्वेष तो था ही नहीं। वे हँसने लगे और पत्नीके साथ घर लौट आये। तबसे उनका परिवार सुखी हो गया।

इस घटनाके लिखनेसे मेरा तात्पर्य इतना ही है कि आप भी अपने छोटे भाईके साथ प्रेमका बर्ताव करें। उसका दोष भी है तो उसे ठीक करनेका उपाय प्रेम तथा स्नेह ही है, न कि तिरस्कार। और यदि आप ईमान बिगाड़कर उसका हक रख लेंगे और उसे निकाल देंगे, तब तो बड़ा पाप करेंगे। भगवान् श्रीरामचन्द्र और परम भाग्यवान् भरत-जीके आदर्शको सामने रखिये। यहाँकी कोई वस्तु साथ नहीं जाती, सब कुछ यहीं रह जायगा। मनुष्य जो बुरी नीयतसे कुछ बुरा काम कर बैठेगा, वही उसके साथ जायगा और उसका दुष्परिणाम भी उसे अवश्य भोगना पड़ेगा। आप प्रेम कीजिये, आपका अपना ही भाई है। उसके अपराधोंको क्षमा कीजिये और उसे हृदयसे लगाइये। आपका बर्ताव निष्कपट, प्रेमपूर्ण और सुन्दर होगा तो उसका हृदय अवश्य पलटेगा, वह आपके अनुकूल हो जायगा। और यदि न भी हुआ तो भी आपकी तो इसमें कोई हानि होगी ही नहीं। भगवान्‌के दरबारमें आप आदरके पात्र होंगे, जो जीवके लिये सबसे बड़ा लाभ है। विशेष भगवत्कृपा।

(१०)

मित्र और सुहृद्‌के लक्षण

प्रिय महोदय! सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपा-पत्र मिला। मित्र और सुहृद्‌का भेद पूछा। इसके उत्तरमें निवेदन है कि मित्र देने-लेनेमें संकोच न करनेवाला हितैषी होता है और सुहृद् प्रत्युपकारकी कोई भावना न रखकर हित करता है। मित्रकी बड़ी सुन्दर व्याख्या श्रीतुलसीदासजी महाराजने की है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी। तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरि सम रज करि जाना। मित्रक दुख रज मेरु समाना॥

× × ×

कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न धरई। बल अनुमान सदा हित करई॥
बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन एहा॥

आज ऐसे मित्र कहाँ हैं? जो केवल अपने स्वार्थ-साधनके लिये ही किसीके साथ मित्रताका नाता जोड़ना चाहते हैं, या जो सभाओंमें कहनेभरको किसीको 'मित्र' नामसे सम्बोधित करते हुए अंदर-ही-अंदर उसका अहित सोचते रहते हैं। ऐसे मित्रोंसे तो बचना ही चाहिये। सुहृद्‌के सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—

परेषामनपेक्ष्यैव कृतप्रतिकृतं हि यः।
प्रवर्तते हितायैव स सुहृत् प्रोच्यते बुधैः॥
(स्क० मा० कुमा० १०। २६)

'प्रत्युपकारकी आशा न रखकर जो दूसरेके हितके लिये प्रवृत्त होता है, बुद्धिमान् पुरुष उसको सुहृद् कहा करते हैं।' हम सभीको मित्र और सुहृद् बननेकी चेष्टा करनी चाहिये। हम किसीके मित्र या सुहृद् होंगे तो हमें भी मित्र-सुहृद् मिल जायँगे। सच्चे सुहृद् तो श्रीभगवान् ही हैं, जिन्हें सुहृद् जान लेनेपर ही शान्ति मिल जाती है।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।

(११)

काल करै सो आज कर

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका कृपापत्र मिल गया था । उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें । आपके विचार बहुत ही उत्तम हैं । आपने जो योजना सोची है, वह भी बढ़िया है; परन्तु आप समर्थ होते हुए भी बारह सालसे केवल सोच ही रहे हैं, कुछ कर नहीं रहे हैं, यह ठीक नहीं है । आप अनुकूल समयकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, पर कौन कह सकता है कि वैसा अनुकूल समय आयेगा या नहीं । या उसके आनेके पहले ही आप संसारसे चले नहीं जायँगे । भजन, दान और धर्मसंग्रह आदि कार्योंमें जरा भी विलम्ब नहीं करना चाहिये । पाप-प्रवृत्तिमें चिरकारिता, दीर्घसूत्रीपन होना बहुत अच्छा है; परंतु सत्कार्यमें तो यह बड़ा भारी विघ्न है । महाभारतमें कहा है—

श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ।
न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम् ॥

'कल करना हो उसे आज करो, दिनके पिछले पहरमें करना हो उसे पहले पहरमें कर लो; तुम्हारा काम हुआ या नहीं, मृत्यु इसकी बाट नहीं देखेगी ।'

इसीका अनुवाद कबीरजीके इस दोहेमें है—

काल करै सो आज कर आज करै सो अब ।
पलमें परलै होयगी फेरि करैगा कब ॥

मेरे एक आदरणीय मित्र थे, बड़े आदमी थे, अच्छा हृदय था । उन्होंने कई योजनाएँ सोच रक्खी थीं । योजनाएँ सभी लोकोपकारिणी और सुन्दर थीं; परंतु वे उन योजनाओंको सफल नहीं बना सके, पहले ही उनका देहावसान हो गया और सारी बातें मन-की-मनमें ही रह गयीं ।

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः ।
नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥

'शरीर सदा नहीं रहते, न वैभव ही सदा रहता है और मृत्यु सदा समीप है, यह समझकर धर्मका संग्रह करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ।'

पता नहीं, कल मन बदल जाय, स्थिति बदल जाय, साधन न रहें, इसलिये आपको अपनी योजना कार्य-रूपमें परिणत करनेके लिये जल्दी करनी चाहिये । यह मेरा आपसे बलपूर्वक अनुरोध है ।

अब रही भजनकी बात, सो वह तो अत्यन्त ही आवश्यक है । मुझे पता नहीं आपकी क्या उम्र है । परंतु भजन तो लड़कपनसे ही करना आवश्यक है । कोई आज मरे या सौ वर्षके बाद, भजन सदा बनता रहे । पता नहीं, कब मौत आ जाय । भजन बिना ही यदि शरीर छूट गया तो इससे बढ़कर और कोई हानि नहीं होगी । मनुष्य-जन्म ही व्यर्थ हो जायगा । जो लोग कहते या मानते हैं कि अभी तो काम करने या भोग भोगनेका समय है, बड़ी उम्र होगी तब भजन करेंगे, वे वस्तुतः बड़े भ्रममें हैं । एक भ्रमर था । वह कमल-कोषमें जा बैठा और मधुपान करने लगा । सन्ध्या होने आयी । कमल सिकुड़ने लगा । उसने सोचा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः ।
इत्थं वितर्कयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

'रात बीतेगी, सुन्दर प्रभात होगा, सूर्यदेव उदय होंगे, तब कमलकी कलियाँ खिल जायँगी । (उस समय मैं निकल जाऊँगा, इतने रात्रिभर आनन्दसे मकरन्द रसका पान करता रहूँ) इस प्रकार कमल-कोषमें बैठा हुआ भ्रमर विचार कर ही रहा था कि हाय हाय ! हाथीने आकर कमलको उखाड़ फेंका (और दाँतों-तले दबाकर भ्रमरके सहित ही उसे पीस डाला) ।'

यही बात हमारे लिये है, पता नहीं, काल-कुंजर कब आकर हमें पीस डालेगा । इसलिये मेरा आपसे यही अनुरोध है कि आप अपनी योजनाको कार्यान्वित करनेमें जरा भी विलम्ब न करें और साथ ही मानव-जीवनके सर्वप्रथम और सर्वप्रधान कर्तव्य भगवद्भजनमें तो तत्परताके साथ लग ही जायँ । ऐसा न कर सके तो संभव है औरोंकी भाँति आपको भी पछताना ही पड़े । शेष भगवत्कृपा ।

(१२)

पुराणोंकी वास्तविकता

प्रिय महोदय ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला । हमारे पुराण-इतिहासोंके बारेमें आज कलके पढ़े-लिखे लोगोंकी जो धारणा है, उससे मेरा मत नहीं मिलता । मैं तो इनमें लिखी एक-एक बातको सच मानता हूँ । सर्वत्यागी ऋषि-मुनियोंको कौन सा स्वार्थ था जो वे किसी उद्देश्य-विशेषको लेकर पक्षपातपूर्ण या असत्य बातें लिखते । इसीसे हमारे पुराणेतिहासोंमें कुछ ऐसी बात भी आ गयी हैं, जो

निन्दनीय हैं; परंतु सच्चा इतिहास लिखनेवाले महापुरुष अपनी निन्दाके भयसे निन्दनीय बातको छिपायें क्यों । उन्हें किसीसे प्रशंसापत्र तो लेना ही नहीं है । यह सत्य है कि हमारे शास्त्रीय वचनोंके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीनों अर्थ होते हैं; परंतु उनका आध्यात्मिक अर्थ करके उन्हें कल्पना बता देना नितान्त अन्याय है । हमारे भारतीय विद्वान् भी दूसरोंका चश्मा चढ़ा लेनेके कारण पुराणवर्णित प्रसङ्गोंका कल्पित अर्थ करते हैं और उसीमें गौरव मानते हैं । इसका कारण है विचित्र रचना करनेवाली प्रकृतिको और लोकोत्तर महापुरुषोंके विविध विचित्र चरित्रोंको न समझना एवं विदेशी विद्वानोंके प्रभावमें पड़कर उन्हें कल्पना मान लेना । आपने जो कल्पना की है, वह भी ऐसी ही है । जबतक हवाईजहाज नहीं बने थे, तबतक हम पुराणोक्त विमानोंकी चर्चाको लोक-कल्पना ही मानते थे। मेरी समझसे तो पुराणेतिहासोंपर विश्वास करके श्रद्धापूर्ण दृष्टिसे ऋषि-मुनियोंके द्वारा आचरित साधनोंका आश्रय लेकर पुराणेतिहासोंके तथ्योंका अनुसन्धान करना उचित है, तभी उनके वास्तविक रहस्यको हम जान सकेंगे । निरे कौतूहलसे, संदिग्ध हृदयसे या उनके मिथ्या कल्पित होनेके दृढ़ निश्चयको लेकर जो अनुसन्धान-अन्वेषण होगा, वह तो सत्यके स्थानपर मिथ्याको ही प्रतिष्ठित करेगा । यह मेरा नम्र मत है । मैं यह मानता हूँ कि पुराणोंमें विद्वानोंने कुछ घटाया-बढ़ाया है पर उससे पुराणोंकी वास्तविकतापर कोई सन्देह नहीं होता । आप विद्वान् हैं, आपको जो उचित तथा सत्य जान पड़े, उसीके अनुसार करना चाहिये । शेष भगवत्कृपा ।

(१३)

कठोर व्रत है पर उसीको निभाना है

बहिन ! मैं तुम्हें क्या लिखूँ । तुम्हारी स्थितिकी स्मृति ही मेरी आँखोंसे अश्रुधारा बहा देती है । यह मेरा चाहे मोह हो, पर है तो सही ही । पर असल बात यह है कि भगवान्‌ने अयाचितरूपसे तुम्हें जो कुछ दिया है, उसे सिर चढ़ाकर स्वीकार करना चाहिये और उसीमें मङ्गल समझना चाहिये । न स्वीकार करोगी, न अपनाओगी, तो भी वह हटेगा तो नहीं । तब फिर, उसे सन्तोषके साथ ग्रहण करनेमें ही बुद्धिमानी है । और उसीमें यथार्थ लाभ भी है । माना, यह महान् दुःख है, भयानक विपत्ति है; परंतु धर्मप्राण व्यक्तियोंकी कसौटी तो विपत्ति और दुःख ही हैं । सोना ही आगमें तपाया जाता है । यह आग है । पर यदि यही आग तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरके विषयानुरागको जलाकर तुम्हारे हृदयको विषय-वासना-शून्य बना दे सके तो कितने मङ्गलकी बात है । संखियेको परिशुद्ध करके उसका यथाविधि सेवन करनेमें ही बुद्धिमानी है । जो स्थिति मिल गयी है, वह तो मिल ही गयी । अब उस स्थितिको प्रतिकूल मानकर रोना, जीवनको तमसाच्छन्न बना डालना और मानवोचित कर्तव्योंसे च्युत हो जाना तो बुद्धिमानी नहीं है; बुद्धिमानी तो उस स्थितिको अनुकूल बनाकर उसे मानव-जन्मकी सफलताका साधन बनानेमें ही है ।

तुम्हारे कुछ हितैषी तुम्हें जो दूसरा मार्ग दिखला रहे हैं और उससे तुम्हें बड़ी मनोवेदना हो रही है—सो तुम्हारी मनोवेदना तो उचित ही है । जिसकी वंशपरम्परामें सदा ही उस दूसरे मार्गको पाप समझा गया हो, जिसके संस्कारमें ऐसी बातका सुनना भी अपराध माना गया हो, उसको अपने ही लिये ऐसी बात सुनकर दुःख तो होगा ही । मैं तो तुम्हारे ही मतका हूँ, यह तुम जानती ही हो । जो सज्जन दूसरे मार्गका निर्देश कर रहे हैं, वे भूलमें हैं और वे सुखके भ्रमसे भारी दुःखके बीज बो रहे हैं । तथापि उनकी हितैषिताकी भावनामें तुम्हें जरा भी सन्देह नहीं करना चाहिये । वे तुम्हारे दुःखसे सचमुच दुखी हैं, वे तुम्हें सुखी देखना चाहते थे और चाहते हैं । पर उनकी दृष्टि दूसरी है । वे जहाँतक देख पाते हैं, वहाँतक उन्हें उनके मतके समर्थक कारण ही मिलते हैं । आज हमारे समाजकी जो दुर्दशा है, उसे देखकर उनका ऐसा मत हो जाय तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । इसलिये उनके मतका अनुसरण न करते हुए भी उनके आत्मीयभाव तथा सद्भावका तो आदर ही करना चाहिये । पर यदि तुम्हारा अपना व्रत दृढ़ है, तुम प्रत्येक परिस्थितिका सामना करनेके लिये तैयार हो तो तुम्हें कोई डिगा नहीं सकता । भगवान् तुम्हारे शुभ सङ्कल्पमें सहायक होंगे । अवश्य ही तुम्हारा व्रत है बड़ा कठोर और सर्वथा तपोमय । आजके युगमें तुम कुछ देवियाँ ही ऐसी हो जो संसारमें तप, व्रत और त्यागकी प्रभामयी ज्वाला बनकर सर्वत्र प्रकाश फैला रही हो । तुम्हें धन्य है और धन्य है तुम्हारे असिधारा व्रतको ! मेरा तो मस्तक तुम सतियोंके चरणोंमें सदा ही नत है । भगवान् तुम्हारी सहायता करें । शेष भगवत्कृपा ।

(१४)

ईश्वर नित्यसिद्ध है

प्रिय महोदय ! सादर सप्रेम हरिस्मरण । कृपापत्र मिला । धन्यवाद । आप लिखते हैं कि 'ईश्वर है, यह सिद्ध कीजिये ।'

इसके उत्तरमें निवेदन है कि ईश्वर नित्य सिद्ध है, वह हमारे, आपके साधन करनेसे सिद्ध होगा, ऐसी बात भी मनमें नहीं लानी चाहिये। आप हैं, मैं हूँ—क्या इस सत्यके अनुभवको भी सिद्ध करनेकी आवश्यकता है ? यदि हम और आप सत्य हैं तो हमलोग जिसके अंश हैं, वह परमात्मा असत्य या असिद्ध कैसे हो सकता है ? जबतक जलकी एक बूँद भी सामने है तबतक जलनिधिको असत्य कैसे कहा जा सकता है ? थोड़ी देरके लिये अंशविभागको कोई असत्य भी मान ले, पर अंशी तो असत्य हो ही नहीं सकता। समुद्रका जल-बिन्दु क्षणिक है, वह वायुके साथ उठकर फिर समुद्रमें ही एकीभूत हो जाता है। इसी प्रकार अनेक जीवविभाग व्यावहारिक सत्य है। इस अनेकताका लय एक परमात्म-सत्तामें ही होता है। अतः अंशी परमात्मा ही नित्य सत्य है। घट सत्य है तो घटनिर्माता कुम्भकार असत्य कैसे होगा ? जगत् जब प्रत्यक्ष है तब इसके स्रष्टाका अभाव कैसे सम्भव है ? कार्य हो और कारण न हो, यह कदापि सम्भव नहीं है। इस सम्बन्धमें आपको विशेष जानना हो तो 'कल्याण'का 'ईश्वराङ्क' कहींसे प्राप्त करके उसे ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये।

२. ईश्वर आनन्दमय हैं, वे लीलारस-विस्तारके लिये ही सृष्टि-रचना करते हैं। इस सृष्टिसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। अनादि कालसे बिलग हुए जीवोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही उनके द्वारा सृष्टिलीलाका सूत्रपात हुआ है।

३. दुःख पूर्वकृत पापोंका फल है। भजनका फल तो सुख है, प्रभुकी प्राप्ति है। वह इस समय भजन करनेवालेको उसके भावानुसार आगे मिलेगा। एक आदमीने किसीकी हत्या कर दी और फिर वह राम-नाम जपने लगा। कुछ समय बाद उसे फाँसीकी सजा होती है। यह सजा राम-नाम-जपका फल नहीं है, यह तो हत्याका दण्ड है। भजन और नाम-जपका परिणाम तो सदा मङ्गलमय और सुखस्वरूप ही है। शेष भगवत्कृपा।

उत्कण्ठा

(श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्यालकृत बँगला पद्यके आधारपर)

क्यों न तुझको देख पाता।
वास तेरा सब कहीं, तब क्यों नयन-पथमें न आता ॥
ढूँढ़ता फिरता सदासे;
जल-थलोंमें व्यग्रतासे।
पर सिवा तेरे, विविध अपदार्थ नयनोंमें समाता ॥

यह भुजा तुझको जकड़ने,
है उठी रहती पकड़ने।
कान तव वचनामृतोंके पान हित नित है लुभाता ॥

भूल होती क्या, न जानूँ,
क्यों पकड़ प्रियको न पाऊँ।
पंख होते तो तुरत उड़कर प्रभूके पास जाता ॥

वासना इतनी लगी है;
प्यास-व्याकुलता जगी है।
पा सकूँगा हा ! न दर्शन क्या कभी हे प्राणदाता ॥

अब न तुझको पा सका मैं;
व्यर्थ श्रम करके थका मैं।
चाहता हूँ भूल जाऊँ, पर नहीं वह भी सुहाता ॥

—भुवनेश

हरि-गुण गायें

आओ मिलकर हरि-गुण गायें।
मानव-जीवन सफल बनायें ॥
नन्द-यशोदा अजिर-विहारी, श्रीमधुसूदन श्रीवनवारी।
राधावल्लभ कुञ्जविहारी, जनहितकारी भव-भयहारी ॥

मदन मनोहर श्याम रिझायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
प्रेमसुधा बरसानेवाला, परम पुनीत बनानेवाला।
मल मन-मुकुर नसानेवाला, प्रभुका रूप दिखानेवाला॥

नयन-सुधा-रस जल बरसायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
प्रेमनगरकी रीति निराली, सूखा पड़े, उगे हरियाली।
बसता है घर होकर खाली, विरह-मिलनकी अद्भुत ताली॥

नयन मूँद लो पट खुल जायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥
रोम-रोम राधाके मोहन, मोहनकी राधा जीवन-धन।
बेकल राधा बेकल मोहन, राधा-मोहन रूप निरंजन ॥

युगल-छटापर बलि-बलि जायें।
आओ मिलकर हरि-गुण गायें ॥

—वैद्य रामेश्वरप्रसाद अग्रवाल

भरत-मिलाप

(र०—श्रीरामभरोसे गुप्तजी 'राकेश' साहित्यरत्न)

गद्य-गीत

पें।
रह गया एक दिन राघवके आनेका !
जन-जनके हृदयकी विरहानल बुझानेका !!
ऐसा सोच राम-बन्धु
स्वप्नसे जगते-से !
स्वयंको ठगते-से !!

हो गये संज्ञा-हीन
कुछ क्षण बाद झोंका आया मलयानिलका
लौट आई चेतना फिर कहने लगे भरत यों
अहह ! धन्य हैं सौमित्र-बंधु
वैभवका मोह त्याग !
नारीका प्रणय त्याग !!

चल दिये मधुप वन
राम-पदारविन्द-मकरन्द पान करने
मैं ही एकमात्र
नीच हूँ, नराधम हूँ, नारकी हूँ
कुठार हूँ रघुकुलके वृक्षका
परंतु नहीं, नहीं,
फिर भी मैं आरत हूँ !
भक्त हूँ शरणागत हूँ !!

किया था जयंतने यद्यपि अक्षम्य दोष !
आया शरणागत हुए राम गत-रोष !!
दिया था अभय-दान !
दिया था क्षमा-दान !!

होती प्रतीति दृढ़ आयेंगे अवश्य राम
और यदि
अवधि बीत जानेपर !
राम के न आनेपर !!
रहें प्राण फिर भी तो कौन अधम मुझ सम
करते यों संकल्प-विकल्प !
बीतता युग-सम काल अल्प !!
व्यथाके सागरमें रहे डूबते उतराते भरत !!!

× × × ×

इतनेमें आ गये मारुत-सुत
सुधा-सम कहने लगे वचन यों
जिसकी अहर्निशि चिन्तामें बने दीन !
करते स्मरण जिसे हो गये महान क्षीण !!
वे ही रघुकुल-पतङ्ग
विजित कर दस-सिर !
दूर कर गहन तिमिर !!

आते हैं इसी ओर
कौन कौन ?
सबरीके प्राण राम !
विभीषणके त्राण राम !!
उदारताके स्रोत राम !
भवार्णवके पोत राम !!

मेरे जीवन-मरुथलके शीतल-जलद—राम
क्या आते हैं इसी ओर ?
हुए भरत प्रमुदित-पुनीत संवाद सुन
यथा रंक पाई हो अतुल राशि वैभवकी।
शुष्कप्राय खेतीपर पड़ गया हो अम्बु ज्यों
तत्क्षण
आ गये सानुज-राम-वैदेही
गिर पड़े भरत राम-पद-पंकजमें
बहने लगे प्रेमाश्रु राघवके नयनोंसे
उस समय
कोकिला कूक उठी
सहस दल खिल गये, मधुपावलि गूँज उठी
वीणापाणि मूक हुई।
सहस्र फन स्तब्ध हुए !!

कवि कर पाया नहीं
व्यक्त उस क्षणको
जब—
मिटता था अखिल चराचरका घोर ताप !
गूँज उठा नभमें धन्य धन्य भरत-मिलाप !!

× × × ×

आनापानसतिका अभ्यास

(लेखक—पं० श्रीलालजीरामजी शुक्ल, एम्० ए०)

'आनापानसति' के अभ्यासकी बौद्ध-धर्मग्रन्थोंमें बड़ी महत्ता दिखलायी गयी है। आनापानसति एक प्रकारसे प्राणायामके समान है, पर वास्तवमें प्राणायामके अभ्याससे भिन्न है। आनापानसति सम्यक् स्मृति, जो बुद्ध भगवान्‌का अष्टाङ्गी मार्ग है, का एक अङ्ग है। यह 'प्राणापानस्मृति' का पाली रूपान्तर है। प्राणायामका मुख्य उद्देश्य शारीरिक स्थितिको सुधारना है। उससे मनमें भी चैतन्यता आती है। आनापानसतिका मुख्य उद्देश्य मानसिक स्थितिको सुधारना है। यह मनको स्थिर करनेका सुगम उपाय है। आनापानसतिमें श्वासके आने और जानेपर मनको लगा दिया जाता है। इसमें किसी प्रकारका और प्रयत्न नहीं किया जाता। सहज श्वास-प्रश्वासपर मनको लगाना—यही आनापानस्मृतिका अभ्यास है।

आनापानस्मृतिसे चेतन मनमें चलनेकी क्रियाओंका निरोध हो जाता है। साधारणतः हमारे मनमें अनेक प्रकारके सङ्कल्प-विकल्प उठते रहते हैं। इनके कारण हमारा मन सदा अस्थिर अवस्थामें रहता है। कभी-कभी मनमें इतने दुःखके विचार आते हैं कि उनके मारे हमें चैन ही नहीं मिलती। इन विचारोंका निवारण आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है। बुद्ध भगवान्‌ने तीन प्रकारके वितर्कोंके निवारणके लिये आनापानसतिका अभ्यास बताया है। ये वितर्क काम-वितर्क, व्यापाद-वितर्क और विहिंसा-वितर्क हैं। काम-वितर्क—अनेक प्रकारकी भोगेच्छाओंके विचारोंका मनमें आना है, व्यापाद-वितर्क दूसरोंके प्रति कृत्य और उनके प्रतिकारके विषयमें विचार आना है, और विहिंसा-वितर्क शत्रु-भावनाके विचारोंका मनमें उठना है। इन सभी प्रकारके वितर्कोंका निरोध आनापानसतिसे हो जाता है।

आनापानसतिका अभ्यास पहले-पहले बड़ा कठिन होता है; क्योंकि मनुष्यके कलुषित विचार उसके मनको किसी भी वस्तुपर स्थिर नहीं रहने देते। जिस व्यक्तिके मानसिक व्यापार जितने अधिक होते हैं, उसके लिये इस अभ्यासका करना उतना ही कठिन होता है। अभिमानकी वृद्धिकी स्थितिमें भी मन एकाग्र नहीं होता।

आनापानसति अहंभावका विनाशक है। जब चेतनाको किसी एक व्यापारपर लगा दिया जाता है तब मनुष्यको अपने आपका भी ज्ञान नहीं रहता। अहंभावके विनाशकी अवस्थामें मनमें अपूर्व शक्ति आ जाती है। वितर्कोंका निरोध भी मानसिक शक्तिको कल्पनातीत परिमाणमें बढ़ा देता है। वितर्कसे सदा हमारी शक्ति व्यर्थ खर्च होती रहती है। यदि इस शक्तिका अपव्यय न हो तो हमें सङ्कल्पसिद्धता प्राप्त हो जाय।

आनापानसतिके अभ्याससे मनुष्यको नींद आ जाती है। अनिद्राकी बीमारीको मारनेका भी यह एक अचूक साधन है। यदि आनापानसतिके कारण नींद न आवे तो इस अभ्याससे उसी प्रकारकी मानसिक शान्तिका अनुभव होता है जैसा कि निद्रासे होता है। वितर्क मानसिक थकावट उत्पन्न करते हैं। आनापानसतिसे वितर्कका निरोध होता है, अतएव मानसिक शक्तिका व्यय भी नहीं होता। निद्रा भी इनका निरोध करती है। अतएव जो लाभ निद्रासे होता है वह भी आनापानसतिके अभ्याससे हो जाता है।

आनापानसतिसे अनेक प्रकारके मानसिक रोगोंका अन्त हो जाता है। अकारण भय और चिन्ताएँ इस अभ्याससे नष्ट हो जाती हैं। आनापानसतिका अभ्यास करते हुए यदि किसी मानसिक रोगीको नींद आ जाय तो उसका मानसिक रोग ही नष्ट हो जाय। किसी भी विचारको लेकर अचेतन अवस्थामें पहुँचना स्वास्थ्यलाभके लिये उपयोगी होता है। मनुष्यके आत्मनिर्देशके फलित होनेके लिये विपरीत भावनाओंका बंद होना आवश्यक है। विपरीत भावनाएँ आनापानसतिके अभ्याससे बंद हो जाती हैं। इसलिये कूये महाशय रोगियोंके स्वास्थ्य-लाभके लिये उन्हें सम्मोहित करके निर्देश दिया करते थे। दूसरेके द्वारा निर्देश पानेके लिये जिस प्रकार सम्मोहित होनेकी आवश्यकता होती है, आत्मनिर्देशके लिये भी उसी प्रकार चेतनाके निराकरणकी आवश्यकता होती है। आनापानसतिके अभ्याससे चेतनाकी धाराका निराकरण होता है और मनुष्य एक प्रकारकी आत्मसम्मोहनकी अवस्थामें आ जाता है।

आनापानसतिके अभ्यासके द्वारा शारीरिक रोग भी नष्ट किये जा सकते हैं। बहुत-से शारीरिक रोग उनके साथ चलनेवाले विचारोंके कारण भयङ्कर हो जाते हैं। रोगके विषयमें चिन्ता करना भी शारीरिक रोगको भीषण बना देता है। यदि हम अपने रोगके विषयमें सोचना बंद कर दें और उसके प्रति उदासीन हो जायँ तो वह देरतक न ठहरे। रोगके बारेमें सोचना उसकी आयुको और बलको बढ़ाना है। आनापानसतिसे सभी प्रकारके विचार बंद हो जाते हैं। रोगके

विचारोंका भी निरोध इस प्रकार हो जाता है। इससे रोग निर्बल हो जाता है और वह देरतक नहीं ठहर पाता।

आनापानसतिके अभ्यासके पूर्व अथवा उसके साथ-साथ 'शिव' भाव अर्थात् सभी घटनाएँ कल्याणकारी हैं, इस विचारका अभ्यास करना उचित है, इससे एक ओर आनापानसतिका अभ्यास दृढ़ हो जाता है और दूसरी ओर मानसिक शान्ति उपलब्ध होती है। इससे बहुत-से शारीरिक और मानसिक रोग अपने-आप नष्ट हो जाते हैं।

किसी प्रकारकी थकावटके पश्चात् थोड़ी देर आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह थकावटको दूर कर देता है। इस प्रकारके अभ्यासके साथ-साथ शिथिलीकरणका अभ्यास करना उचित है। शिथिलीकरणमें अपने अङ्ग-प्रत्यङ्गोंके विषयमें विचार करते हुए उन्हें शिथिल किया जाता है। यह एक प्रकारका आत्मनिर्देशका अभ्यास है।

किसी प्रकारके भयङ्कर सङ्कटमें पड़ जानेकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बड़ा सहायक होता है। इससे मनुष्यमें नया आत्मविश्वास उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई जटिल समस्याको सुलझानेके पूर्व आनापानसतिका अभ्यास किया जाय तो वह समस्या सरलतासे हल हो जाती है। मनकी कमजोरीकी अवस्थामें मनुष्यके मनमें अकल्याणकारी विचार और अभद्र कल्पनाएँ ही अधिक आती हैं। इनपर नियन्त्रण करना कठिन होता है। जो स्थिति रोगकी अवस्थामें मनकी हो जाती है, वही स्थिति अन्य सङ्कटकालमें भी हो जाती है, ऐसी स्थितिमें सभी प्रकारके विचारोंको स्थगित कर देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है।

स्वस्थ अवस्था प्राप्त होनेपर जो विचार आते हैं, वे कल्याणकारी होते हैं। उनके अनुसार काम करनेसे मनुष्यको सफलता मिलती है। अतएव सङ्कटकालमें, रोगकी अवस्थामें आनापानसतिका अभ्यास बहुत ही उपयोगी होता है।*

मीरा और मोहन

(रचयिता—काव्यरत्न 'प्रेमी' विशारद भीण्डर)

(१)

मीराके मन्दिर आवते मोहन, मोहन-मन्दिर जावती मीरा।
मीराका रीझता मोहनसे मन, मोहनको सु रिझावती मीरा॥
मीराको थे उर लावते मोहन, मोहनको उर लावती मीरा।
मीराके थे मन भावते मोहन, मोहनके मन भावती मीरा॥

(२)

मोहनकी बजती मुरली पग-घूँघरू थी घमकावती मीरा।
देखने दौड़ते मोहन थे वह मंजुल नाच दिखावती मीरा॥
कान दे मोहन थे सुनते वह जो कुछ बावरी गावती मीरा।
जाते समा कभी मीरामें मोहन, मोहनमें थी समावती मीरा॥

(३)

मीराको मोहन ही थे कबूल औ मोहनको भी कबूल थी मीरा।
आते उड़े हुए तूलसे मोहन, जाती उड़ी हुई तूल थी मीरा॥
सौरभ-रंजित मोहन थे, चरणों पै चढ़ी वह फूल थी मीरा।
मीरा बिना किसे मोहते मोहन, मोहनके बिन धूल थी मीरा॥

---

* श्वास-प्रश्वासकी गतिको मनसे देखते रहनेके साथ ही यदि उस गतिमें होनेवाली ध्वनिके साथ इष्ट नाम या मन्त्र जोड़ दिया जाय यानी आने और जानेवाला श्वास अमुक ॐ, राम, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, नमः शिवाय आदि किसी भी नामकी ध्वनि कर रहा है ऐसा ध्वनिमें चिन्तन किया जाय तो उससे बहुत लाभ होता है। —सम्पादक

धूरिभरे नँदलाल

(१)

हारन की हलकैं हियहार सुधा छलकै किलकारिन शाला।
डारत लोक विलोकनि चेटक दै टक हेरि रहीं सुरबाला॥
ठौर ठगैं शत काम गुमान जु दौरि चलैं घुटुवान गुपाला।
मूरि सजीवनि मेलत जीवन खेलत धूरिभरे नँदलाला॥

(२)

आवैं न मातु यशोदाकी गोद विनोदनि पूरि रही अँगनाई।
ज्यों घन बीच हँसै चपला त्यों लला किलकारि भरैं वलकाई॥
चित्त चुरी निचुरी-सी परै बड़री अँखियान चितौनि निकाई।
आनन द्वै दुधरी दतियाँ तुतरी वतियान घुरी मधुराई॥

(३)

अंजन अंजित खंजन नैन जु मैनहुके मद गंजनवारे।
भौंह कमान अनोखिये वान सदा मुखपै मुसुकानि-सि धारे॥
गोरज गोरें सुभाल रमैं विरमैं बनमाल गरे सुघरारे।
वै घुघरारी घनी लटके कच हैं मन कौं अटकावन हारे॥

(४)

सीस लही कुलही उलही अति ही छवि छै सुरचाप घनेरी।
देखि जकै मनि मंडित भाल महा मतिहू विधि पंडित केरी॥
लै सिगरे जगकी सुषुमा अधरान खरी अरुना गई फेरी।
हेरी न जात जु वै मुख पैं छवि खेलि रही है अँधेरी उजेरी॥

(५)

वाजि रहीं पग पैंजनियाँ कटि किंकिनी राजत स्याम सलोना।
खोवत आपनपौ धुनिमें जग जोवत जात है चित्रलिखोना॥
कानन लौं करि जात पयान वड़े दृग चंचल खंजन छौना।
वाल दिठौनन पूरित भाल जितै हँसि हेरत फेरत टोना॥

—श्रीहरीश साहित्यालङ्कार

श्रीहरिः

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष २४

सं० २००६-२००७

सन् १९५०

की

निबन्ध, कविता

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार] * [प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

वार्षिक मूल्य ७॥)
विदेशोंके लिये १०) (१५ शिलिङ्ग) } प्रति संख्या ।≅)

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके चौबीसवें वर्षकी लेख-सूची

कविता

संकलित

चित्र-सूची

सुनहरे

तिरंगे

इकरंगे

भजन-संग्रह (पञ्चम भाग) सचित्र, पृष्ठ १४० ... =)
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी–सचित्र, पृष्ठ ५६ ... –)॥
नारीधर्म–सचित्र, पृष्ठ ४८ ... –)॥
गोपी-प्रेम–पृष्ठ ५२ ... –)॥
मनुस्मृति–द्वितीय अध्याय, सार्थ, पृष्ठ ५२ ... –)॥
ध्यानावस्थामें प्रभुसे वार्तालाप–सचित्र, पृष्ठ ३६ ... –)॥
श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–सटीक, पृष्ठ ९६ –)॥ सजि० =)॥
हनुमान-बाहुक ... ... –)॥
श्रीसीताके चरित्रसे आदर्श शिक्षा–सचित्र, पृष्ठ ४० ... –)।
मनको वश करनेके कुछ उपाय–सचित्र, पृष्ठ २४ ... –)।
ईश्वर–पृष्ठ ३२ ... –)।
मूलरामायण ... ... –)।
रामायण-मध्यमा-परीक्षा-पाठ्यपुस्तक–पृष्ठ ३२ ... –)।
हरेरामभजन १४ माला ... ।–)
" ६४ माला ... १)
शारीरकमीमांसादर्शन–मूल, पृष्ठ ४८ ...)॥।
बलिवैश्वदेवविधि ...)॥

Our English Publications

Philosophy of Love ...	1-0-0
Gems of Truth (Second Series) ...	0-12-0
The Bhagavadgita ...	0-4-0
" " Bound ...	0-6-0
The Divine Name and Its Practice ...	0-3-0
Wavelets of Bliss ...	0-2-0
The Immanence of God ...	0-2-0
What is God? ...	0-2-0
What is Dharma ...	0-0-9
The Divine Message ...	0-0-9

नयी सूचना

छोटी-छोटी पुस्तकोंके बंद लिफाफोंमें पैकेट बनाये गये हैं। इन पैकेटोंपर पुस्तकोंके अलग-अलग नाम तथा मूल्य छाप दिया गया है। पैकेटोंकी पुस्तकोंमें हेर-फेर नहीं किया जाता है। किसी भी पुस्तककी अधिक संख्यामें अलग माँग दी जा सकती है।

पैकेटका विवरण इस प्रकार है—

पैकेट नं० १, पुस्तक-सं० १३, मूल्य ॥।)

१–सामयिक चेतावनी–पृष्ठ २४ –)
२–आनन्दकी लहरें–सचित्र, पृष्ठ २४ –)
३–गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र–सचित्र, सार्थ, पृष्ठ ३२ –)
४–श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश–पृष्ठ १६ –)
५–ब्रह्मचर्य–पृष्ठ ३२ –)
६–सप्तमहाव्रत–पृष्ठ २८ –)
७–सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय–पृष्ठ ३२ –)
८–भगवन्नाम–पृष्ठ ७२ –)
९–श्रीमद्भगवद्गीताका तात्त्विक विवेचन–पृष्ठ ६४ –)
१०–भगवत्तत्त्व–पृष्ठ ६४ –)
११–सन्ध्योपासनविधि–सार्थ, पृष्ठ २४ –)
१२–हरेरामभजन–२ माला)॥।
१३–पातञ्जलयोगदर्शन–मूल, पृष्ठ २८)।
॥।)

पैकेट नं० २, पुस्तक-सं० ५, मूल्य ।)

१–संत-महिमा–पृष्ठ ४०)॥।
२–श्रीरामगीता–सटीक, पृष्ठ ४०)॥।
३–विष्णुसहस्रनामस्तोत्रम्–मूल, पृष्ठ ४४)॥।
४–वैराग्य–पृष्ठ ४०)॥।
५–रामायण-सुन्दरकाण्ड –)
।)

पैकेट नं० ३, पुस्तक-सं० १६, मूल्य ॥)

१–विनय-पत्रिकाके पंद्रह पद–सार्थ, पृष्ठ १६)॥
२–सीतारामभजन)॥
३–भगवान् क्या हैं?–पृष्ठ ४०)॥
४–भगवान्की दया–पृष्ठ ४०)॥
५–गीतोक्त सांख्ययोग और निष्कामकर्मयोग–पृष्ठ ४८)॥
६–सेवाके मन्त्र–पृष्ठ ३२)॥
७–प्रश्नोत्तरी–सटीक, पृष्ठ २८)॥
८–सन्ध्या–हिन्दी-विधिसहित, पृष्ठ १६)॥
९–सत्यकी शरणसे मुक्ति–पृष्ठ ३६)।
१०–भगवत्प्राप्तिके विविध उपाय–पृष्ठ ४०)॥
११–व्यापारसुधारकी आवश्यकता और व्यापारसे मुक्ति)॥
१२–स्त्रियोंके कल्याणके कुछ घरेलू प्रयोग–पृष्ठ २०)॥
१३–परलोक और पुनर्जन्म–पृष्ठ ४०)॥
१४–ज्ञानयोगके अनुसार विविध साधन–पृष्ठ ३६)॥
१५–अवतारका सिद्धान्त–पृष्ठ २८)॥
१६–गीताके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची–पृष्ठ ४०)॥
॥)

गीता-जयन्ती

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥ (गीता १८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझे सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर।'

विश्वकी स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है। सभी ओर पाप और पापाचारियोंकी ही प्रबलता देखनेमें आती है। मानव-समाजका नैतिक स्तर बहुत ही नीचा हो गया है। भोगलालसाकी कोई सीमा नहीं रह गयी है। धर्ममें अथवा कर्तव्यपालनमें किसीकी रुचि नहीं है। रुचि है धर्मविरहित कामाचार, अनीतियुक्त अर्थोपार्जन और अन्यायमूलक अधिकार-विस्तारमें। यही सभ्य कहानेवाले समाजोंके जीवनका परम लक्ष्य बन रहा है। सर्वत्र अति गर्हित अनाचार, भ्रष्टाचार और अत्याचारका विस्तार हो रहा है। पापके इस प्रवाहको रोकनेका सफल मार्ग किसीको नहीं सूझ रहा है। इस विकट परिस्थितिमें सच्चा मार्ग प्राप्त करनेका यदि कोई सफल साधन है तो वह श्रीमद्भगवद्गीताकी शिक्षा ही है। किंकर्तव्यविमूढ अर्जुनको अखिल ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीकृष्णकी दिव्यवाणी गीतासे ही चेतना, स्फूर्ति, शक्ति, ज्ञान और प्रकाश मिला था और इसीसे विजय तथा विभूतिकी प्राप्ति हुई थी। आज भी यदि हम ऐसा चाहते हैं तो हमें परम श्रद्धाके साथ गीताकी ही शरण लेनी चाहिये और उसीकी शिक्षाके अनुसार भक्तिसमन्वित निष्काम कर्ममें लगना चाहिये।

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ ता० २० दिसम्बर बुधवारको श्रीगीता-जयन्तीका पर्व है। इस पर्वपर सब लोगोंको गीता-प्रचार तथा गीता-ज्ञानके क्रियात्मक अध्ययनकी योजनाएँ बनानी चाहिये और पर्वके उपलक्ष्यपर श्रीगीतामाताका आशीर्वाद प्राप्त करनेके लिये नीचे लिखे कार्य सभी जगह अवश्य करने चाहिये।

१—गीताग्रन्थका पूजन।

२—श्रीगीताके वक्ता भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीगीताको महाभारतमें ग्रथित करनेवाले भगवान् व्यासदेवका पूजन।

३—गीताका यथासाध्य पारायण।

४—गीता-तत्त्वको समझने-समझानेके लिये तथा गीता-प्रचारके लिये सभाएँ, गीता-तत्त्व और गीता-महत्त्वपर प्रवचन और व्याख्यान तथा भगवन्नाम-कीर्तन आदि।

५—पाठशालाओंमें और विद्यालयोंमें गीतापाठ और गीतापर व्याख्यान तथा गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।

६—प्रत्येक मन्दिरमें गीताकी कथा और श्रीभगवान्‌की विशेष पूजा।

७—जहाँ कोई विशेष अड़चन न हो, वहाँ श्रीगीताजीकी सवारीका जुलूस।

८—लेखक तथा कवि महोदय गीतासम्बन्धी लेखों और कविताओंद्वारा गीता-प्रचारमें सहायता करें।

पत्र लिखनेवाले भाई-बहिनोंसे निवेदन

'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर पानेके लिये कई बहिनें तथा भाई अपने नाम-पता न देकर पत्र लिखते हैं। ऐसे बहुत-से पत्र इकट्ठे हो गये हैं। इनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जिनमें केवल व्यक्तिगत तथा घरेलू कठिनाइयोंकी चर्चा है और कुछ ऐसे हैं जो केवल 'कामके पत्र' शीर्षकमें उत्तर छपनेके लिये ही लिखे गये हैं। यह जान रखना चाहिये कि सभी पत्रोंका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित नहीं किया जा सकता। जो पत्र सार्वजनिक दृष्टिसे महत्त्वके समझे जाते हैं, उन्हींमेंसे कुछका उत्तर 'कल्याण'में छपता है। स्थानके अभावसे तथा उपर्युक्त पत्रोंमेंसे अधिकांशका उत्तर 'कल्याण' में प्रकाशित करना सार्वजनिक लाभकी दृष्टिसे उचित नहीं है, इसलिये भी, उनका उत्तर नहीं छप रहा है। ऐसे लोगोंमें, जो अपना नाम-पता लिखकर उत्तर चाहेंगे उन्हें अवकाशानुसार उत्तर दिया जायगा और उनका पत्रव्यवहार गुप्त भी रक्खा जा सकेगा। अतः बिना नामके पत्रोंका उत्तर 'कल्याण'में न छपे तो पत्रलेखक महानुभाव क्षमा करें। शेष पत्रोंका उत्तर 'स्कन्दपुराण' समाप्त होनेपर 'कल्याण'में छप सकेगा।

सम्पादक—'कल्याण' गोरखपुर

विशेषाङ्कके लिये लेख न भेजनेके लिये कृपालु लेखकोंसे निवेदन

'कल्याण' के आगामी विशेषाङ्क 'संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क' में स्थानसङ्कोचसे केवल पुराणसे चुने हुए प्रसङ्गोंका अनुवाद ही छापा जायगा। लेख बिल्कुल नहीं छप सकेंगे। अतः विद्वान् लेखक महानुभावोंसे करबद्ध प्रार्थना है कि वे विशेषाङ्कके लिये कृपया लेख न भेजें। जो कुछ लेख आ गये हैं, वे भी लौटाये जा रहे हैं।

कल्याणके पाठकोंसे प्रार्थना

इधर कुछ समयसे गीताप्रेसमें प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थोंके संग्रहका प्रयास हो रहा है। संगृहीत ग्रन्थोंके प्रकाशनकी अभी कोई भी योजना नहीं है। केवल उन्हें सुरक्षित रखनेकी दृष्टिसे संग्रह किया जा रहा है। अतएव 'कल्याण'के प्रत्येक पाठकसे हमारी प्रार्थना है कि वे वेद-वेदाङ्ग, स्मृति, पुराण, तन्त्र और धर्मशास्त्र आदि विषयोंके संस्कृत, हिन्दी, बँगला ग्रन्थ पुराने कागजोंपर या ताड़पत्रोंपर लिखे हुए प्राचीन ग्रन्थोंका संग्रह करके हमें भेजने-भिजवानेकी कृपा करें। डाक-महसूल या रेलका किराया यहाँसे दिया जायगा। किसी प्राचीन संग्रहयोग्य ग्रन्थका कोई सज्जन यदि मूल्य चाहेंगे तो उसपर भी विचार किया जायगा।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण'

हिंदू-संस्कृति-अङ्क

देशके सर्वमान्य विद्वानों तथा पत्र-पत्रिकाओंद्वारा प्रशंसित भारतवर्षकी अनुपम तथा आदर्श संस्कृतिके महान् स्वरूपका दिव्य दर्शन करानेवाला 'कल्याण'का 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क' जिनको लेना हो, वे शीघ्रता करें। केवल इस अङ्कका मूल्य ६॥) है। सालभरके अङ्क लेनेपर ७॥) है, पर चौथा तथा पाँचवाँ अङ्क समाप्त हो गया है। इनके बदलेमें ग्राहक चाहेंगे तो पिछले किसी वर्षके कोई-से साधारण अङ्क दिये जा सकेंगे। रुपये भेजते समय मनीआर्डर-कूपनमें 'हिंदू-संस्कृति-अङ्क'के लिये रुपये भेजे जा रहे हैं, यह स्पष्ट लिखनेकी कृपा करें।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

श्रीजयदयालजी गोयन्दकाद्वारा लिखित तीन नयी पुस्तकें

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या ५२०, ऋष्यमूकपर रामदर्शनका सुन्दर तिरङ्गा चित्र, मूल्य १=) डाकखर्च अलग।

श्रीजयदयालजीके समय-समयपर 'कल्याण'में प्रकाशित लेखोंका यह छठे भागके आगेका संग्रह है। परमार्थप्रेमी नर-नारी इस ग्रन्थसे अधिकाधिक लाभ उठावेंगे ऐसी आशा है।

रामायणके कुछ आदर्श पात्र

आकार डबल क्राउन सोलहपेजी, पृष्ठ-संख्या १६८, आदर्श भरतका तिरङ्गा चित्र, मूल्य ।=) मात्र। डाकखर्च अलग।

तत्त्व-चिन्तामणि भाग ७ में प्रकाशित भगवान् श्रीराम, श्रीलक्ष्मण, श्रीभरत, श्रीशत्रुघ्न और भक्त हनुमान्‌के चरित्र तथा सं० वाल्मीकीय रामायणाङ्कमें प्रकाशित श्रीसीताजीका आदर्श जीवन नामक लेखोंका यह पुस्तकाकार संग्रह है।

आदर्श नारी सुशीला

धार्मिक जनताके विशेष आग्रहके कारण 'कल्याण' वर्ष २४ सं० १० में प्रकाशित साध्वी सुशीलाकी शिक्षाप्रद कहानी नामक लेख ही अलग पुस्तकाकार छापा गया है। पृष्ठ-संख्या ५४, मू० ≡) मात्र।

व्यवस्थापक—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)